

रैत

का

पृन्दावन

रेत का वृक्षावन

आशापूर्णा देवी



बगना की कथा-महिषी
आशापूर्णा देवी
ने एक भेंट

●

मुनीन गुप्ता

‘बाद की बाद मे ! पहले आप मुझ हाट लीजिए ! मैंने बहुत देर बर दी न ?’ मन ही मन यह ‘सुआफी’ दुहगते हुए, मैं आगा दी के यह गाम को गाँव पाँच के बजाय साँठे छह बजे पहुँची हूँ। एक बख्शी खबर दे गई है, ‘ठाकुर-मा’ पूजा-घर में हैं। आप बैठिए।’

मैं उनके गिनाप-घर में ली जाती हूँ। दो मजिसे पर, तीन में एक पमरा, जिसमें कितारें भी हैं, नितोनें भी। आशापूर्णा देवी—लगभग १६५ पुस्तकों की मजिफा, हजारों कहानियों की लेखिका, नारी-स्वा-तन्त्रता की दुर्द्वेप हिमायनी—ययोवृद्ध लेखिका आशापूर्णा देवी। बाहर में अतिशय गरम, विनम्र और ममतामयी, अदर से अन्याय-अत्याचार के गिनाफ अगारे उगलती हुई, इस सदायन लेखिका ने आधुनिक बगला-साहित्य के बर्द-बर्द चाली और युगों को अपने में गमेष्ट किया है, उन्होंने अवरोधों में जस्टी नारी की ध्येय-कथा को बाणी दी, पुन्य-शामित ममाज की तानाशाही के गिनाफ विद्रोह उत्साया। ‘प्रथम-प्रतिधुति’, ‘सुवर्णलता’, ‘बहुल-कथा’—ये तीन बृहद् उपायाम, उनकी साहित्य-पामा के तीन आयाम हैं, जो अपने में आदि, मध्य और वर्तमान रानसडों का इतिहास समाहित किए हुए, समूचे युग का एक विराट निध प्रस्तुत करते हैं।

‘माफ करना, सुगील, जरा देर हो गई।’ उनकी विनम्र आवाज मुनकर मैं चौकी हूँ और हठात चुप हो आई हूँ। उनके प्रति अपराध-बोध मन को मय रहा था, वह स्वयं विनम्रता की मूर्ति धनी, गद्गद

भाव ने करीब आ बैठी थीं। सफाई वहां दी जाती है, जहां कोई दूरी हो। मेरे सामने जो महीयसी महिला थीं, वह तो शायद इस ख्याल में ही उमग आई थीं कि कोई कितनी दूर से उनके पास आए, यही बहुत काफी है। १९७७ के 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित, 'प्रथम-प्रतिश्रुति' की लेखिका आशापूर्णा देवी, उस वक़्त अपनी ममतामयी आंखों और सदाबहार हंसी के पीछे जा छुपी थीं। उनमें लेखिका तो तब सजग हुई, जब मैंने उनका अभिनंदन किया।

मेरे अभिनंदन पर उन्होंने सरल मुस्कान बिखेरते हुए कहा, '१३ साल की उम्र में लिखना शुरू किया। पहले कई सालों तक कविता लिखी, फिर अट्ठाईस साल की उम्र तक केवल बच्चों के लिए कहानियां लिखती रही। इसके बाद दो-एक हास्य कहानियां भी लिखीं। इसी दौर में खेल-बेल में लिखी कविता-कहानियों ने ही जाने कब बड़ा कर दिया। खेल-खिलवाड़ में लिखते-लिखते अचानक मैं सीरियस हो गई और सीरियस मनलों पर सीरियस कहानियां लिखने लगी। 'राजू की मां' मेरी पहली कहानी थी, उसके बाद तो ढेरों कहानियां... फिर उपन्यास। बाहर की दुनिया से तो जान-पहचान थी नहीं, बस लिख-लिखकर डाक से भेज देती थी।'।

शिक्षा-दीक्षा के सवाल पर उन्होंने उसी सहजता से स्वीकारा है — 'मैं जिस मध्य-वित्त समाज की लड़की थी वह पुरुष-शासित समाज था। औरतें पदों में रहती थीं। खबरदार! जो लड़की जात होकर स्कूल-कानेज जाए। नाक कटाए। हरगिज़ नहीं! — दादी का कड़ा हुकम था और मेरे फरमावरदार मां-बाप ने उसका अक्षरशः पालन करते हुए स्कूल का मुंह ही नहीं देखने दिया। तुम्हें बताऊं, मैंने अपने जीवन में पहली बार स्कूल का मुंह तब देखा था जब मैं अघेड़ होने के बाद किसी स्कूल में सभानेत्री की हैसियत से पुरस्कार-वितरण के लिए गई थी। सो, हमेशा पर की चहारदीवारी के अंदर कैद, बाहरी दुनिया की आहट-भर सुनती-सुनती मैं जवान हुई। मेरे सामने आम औरत की जो तस्वीर थी, वह बेहद निरुपाय, असहाय, पुरुष की चढ़ी हुई तयोरियों से कांपती-थरती अयला-भर थी। अतः स्कूल न जा पाना, पढ़ने-लिखने से वंचित रह

आता—यही मे भैया पहला प्रतिकार शुरू हुआ। उन दिनों घर के मर्दे बहानी-विशेष परला बरत की बगबाड़ी समझते थे और यही मेरे लिए सीमाएं बन गयीं। बाद में जब मेरे भैया, भैया के विचार की गहराई उनके कानों तक पहुंची तब तब बहुत देर हो चुकी थी। तब तब मैं हमारे समझातीन पर-परिचाओं में अपने-आपने मसी थी, बहानी बर्गम्ह के लिए मरानों के पर और परिधिपर जाने मने थे। बेटी बर्गम्ह पाए और घर में आता—इसमें भैया विनी को क्या एतबार हो सकता था ? मुझे फिर होसी कि मैं अपनी उम्र के मने-मने वालों के पर घर घर चुकी थी, जब मैं वाली घर मेला-मोली में मर्गिन हुई थी।

मेरे टोके पर वह मुसकई है—विरोध की मुद्रा पराई। उन दिनों परि मेरा बहुत निरपत्ता करण था, इसलिए मेरे समझातीन मेला-मोली में मेरे बारे में क्या निता-मुक्ति करने हैं, वह मुझे तब तक नहीं पट्टा हो गयी पाता था। मुझे मात्र भी पता है, जब मैं पहली बार एक मोली में मर्गिन हुई तब मेरे एक समझातीन मेला-मोली में मुझे बताया कि घर तब भी मसी समझातीन थे कि ऐसी मर्गिन मोली में मर्दे की ही हो सकती है जो 'आता-पुता देवी' के मर्द नाम में निरपत्ता मोल मर्गिन करना चाहता है। वाली, माय देवी, उन दिनों घर के आता-मर्गिन मेला-मोली पर भी पुरानी का ही एतबार राज्य समझाता था। मेरे अंतर की उम्र हुई और मे भैया मेला-मोली के प्रतिकार का घर गया है तो क्या मुलाहिका ?

आता ही की पहला-पहली हली मन में अंतर-मा विमर्श बना गई कि वह बड़ी पेटिका है जो अपनी मेला-मोली में परम निमर्श और अपनी मर्गिन मर्गिन में, मर्द के मोल पर, बार-बार मर्गिन मर्गिन करती हुई, मात्र भी मर्गिन और मर्गिन है ! मेला-मोली विमर्श में मही भिया, विनी मर्गिन या मर्गिन की विमर्श में भी मही, बर्गिन मर्गिन मर्गिन, अपनी मर्गिन मर्गिन और मर्गिन मर्गिन के मर्गिन पर वह मर्गिन मर्गिन-मर्गिन पर ला गई।

'हमारी मैं मर्गिन मर्गिन मर्गिन, मर्गिन मर्गिन मैं मर्गिन मर्गिन मैं। मुझे मर्गिन देवी, निरपत्ता देवी मर्गिन की बहानी भी मर्गिन थी।

लेकिन उनकी नारी आदर्श की होती थीं। मुझे लगा, आदर्श से भी बड़ी वह वास्तविकता है जिसकी मार इंसान को कुछ का कुछ बन जाने को विवश कर देती है। अतः मैंने अपने लेखन में उस क्रूर यथार्थ को अभिव्यक्ति दी।'

'अच्छा, आप आदमी की बेसिक ईमानदारी पर विश्वास करती हैं ? आपको क्या यह नहीं लगता कि बेसिक ईमानदारी अब अजायबघर में दर्ज करने वाली बात हो गई है ? आदमी ही आदमी का विश्वास छलता है और नुकसान पहुंचाता है ?'—मेरे सवाल पर उनकी आंखों में अछोर ममता झलक आई है—'नहीं, मैं आज भी इंसान की शुभ-बुद्धि में विश्वास करती हूं। हर घुरे से घुरे इंसान में मैंने कोई न कोई खूबी पाई है। ईमानदारी छली जाए, यह किसी एक की बदकिस्मती हो सकती है, हर किसी की नहीं। आदमी ध्वंस से अधिक सृजन करता है। तभी तो यह सृष्टि कायम है। औरत की तेजी से बदलती हुई स्थिति की हर वारीकी को मैंने अपने लेखन में पकड़ने की कोशिश की है। कल तक घर की चहारदीवारी में कैद औरत, आज बाहर निकलकर हर मुश्किल से मुश्किल कार्यक्षेत्र में भी न सिर्फ पहुंचती है, बल्कि छा गई है, पुरुष के समान ही सफल साबित हुई है। यह क्या कम गौरव की बात है ? मैंने पिछला ज़माना भी देखा है, मैंने आज का ज़माना भी देखा है। औरत ने हर कदम पर पुरानी ज़मीन तोड़ी है और पुरुष-शासन से अपने को क्रमशः मुक्त किया है। लेकिन जानती हो, ट्रेजेडी क्या है ? औरत आज भी बंदी है, अपने रचे कठघरे में खुद ही बंदी। वह बाहरी तौर पर स्वतंत्र हो गई है, लेकिन अंदर से वही औरत की औरत। इसकी दो बजहें हैं—नारी के प्रति पुरुष की दृष्टिभंगी में कोई खास बदलाव नहीं आया है। उसने समाज, परिवेश, वक्त के तकाजों के 'चाप' से विवश होकर औरत को आजाद तो कर दिया, लेकिन मन ही मन वह अब भी क्रुद्ध और क्षुब्ध है। वह औरत की मुक्ति को मन से स्वीकार नहीं पाया है। हमारे, औरत स्वयं भी अपनी आत्मिक परतंत्रता के लिए जिम्मेदार है। वह आज भी हर तरह से पुरुष की प्रशंसा की प्रत्याशी है। आज भी उसका मकसद अपने बनाव-शृंगार से पुरुष को रिझाना-भर है। इसके

अलावा उसी अतिशय ममता उसे मार गई है। नहीं, मैं यह नहीं कहती कि ममता बुरी चीज है, लेकिन मनना मे वह इतना इन्वाल्व हो जाती है कि वह हर कही, हर किसी के संदर्भ में इस बुरी तरह जुड़ी हुई है कि उसके मन में हर पल, बहुत-सी संभव-असंभव अपेक्षाएं जन्म लेती हैं— वस, यही वह मानसिक तौर पर आश्रित हो जाती है। देखो न, पुरुष प्रत्याशी नहीं, इसीलिए उन्मुक्त रहना है, औरत फौरन प्रत्याशी हो उठती है, इसलिए मानसिक रूप से आज भी परतंत्र है। आत्मिक मुक्ति के लिए उसे अपने मानसिक स्तर से ऊपर उठना ही होगा।'

मैंने उनके सामने कुछ और सवाल रख रख दिए हैं। उन्होंने उगी मासूमियत से स्वीकारा है—'हां, तुम्हारे सवाल जायज हैं। मैं अपनी समकालीन परिस्थितियों—दुर्भिक्ष, शरणार्थी, राजनीति वगैरह मसलों पर चुप लगा गई हूँ। दरमसल दुनिया इनती बधी है, सुभील, कि हर मसले पर लिखना, हर दुख से कराहना असंभव-सा है। मेरे लेखन में ये विषय लगभग नहीं आए। सो बात की एक बात यह है कि जो मन मे आता है, वही लिखने को विवश होनी हूँ। मैं लिख डालती हूँ। अपने हिसाब से मैंने भी साहित्य में प्रयोग किए हैं, और मेरे पाठकों की धन्यर्यना भी मिली है। 'प्रथम-प्रतिभुति' की सत्यवती प्रतिवाद की प्रतिमूर्ति है। यही एक ऐसी कथा है जो बरान से ही मेरे दिमाग में पनप रही थी। इनके पात्र वचन में ही मुझे उद्दिग्ध और आलोडित करते रहे। मुझमें मैकडो सवाल जगाते रहे। मुझमें एक पागल ज़िद भरते रहे कि पुरुष की नाइसाफी बग़दाश्त करती हुई औरत क्या हमेशा हारती ही रहेगी? वह कभी जीतेगी नहीं? और कुछ मतोंप है कि मैंने उसके माध्यम से जो कुछ कहना चाहा था, कह दिया। बदलते हुए समाज, बदलती हुई मान्यताओं के साथ मैं भी बदली हूँ। मेरा लेखन भी बदला है। कही विवाह तोड़ने की सहजना पर प्रश्नचिह्न लगाया है, कहीं विवाह तोड़ने की छटपटाहट है। लेकिन बेसिक बात यह है कि मैं शायद बहुत शगड़ालू हो उठती हूँ, अपने लेखन में। मेरी दृष्टि में जो उचित नहीं है, मैं उसका जबरदस्त प्रतिकार करती हूँ। असल में समाज अपने अनुसार चलता रहेगा, हमारा लेखन वस इतना-भर ही कर सकता है कि

उस समाज की मानसिकता, रूढ़िगत परंपराओं को बदलने की कोशिश करे। मेरे लेखन ने अपने समय की मध्यवित्त परिस्थितियों, संस्कारों के आगे कहीं हार नहीं मानी, कभी आत्मसमर्पण भी नहीं किया। लेकिन मुझे जो कहना था, कह लिया; जो देना था, दे लिया। अब तक काफी कुछ लिख लिया। अब क्लान्ति आने लगी है। लेकिन अगर वक्त मिले तो खूब-खूब लिखने का मन करता है। अब उम्र के साथ-साथ व्यस्तताएं जिम्मेदारियां भी बढ़ गई हैं। अब तो जो लिखती हूं, वह प्रेरणा से नहीं, ताड़ना से लिखती हूं। संपादकों, प्रकाशकों, पाठकों की ताड़ना और प्रीतिवश लिखती हूं। अतः रोज लिखना नहीं हो पाता। लेकिन तमाम व्यस्तताओं और भरे-पूरे पलों के बावजूद न लिखने पर खालीपन घेरता है। मैंने घर-गृहस्थी की चहारदीवारी के भीतर से ही जो कुछ देखा-सुना-महसूस किया, वह इतना विशद है कि बहुत कुछ लिखने को उकसाता है, लेकिन जैसे अपने लेखन से प्रतिवद्ध हूं, वैसे ही अपनी घर-गृहस्थी और परिवार से भी। मुझे लेखन के लिए घर-गृहस्थी से वक्त नहीं चुराना पड़ा, घर-गृहस्थी भी कभी मेरे लेखन में बाधक नहीं बनी। सो अभी तो लगता है, मैं जो कहना चाहती थी, कह लिया। भविष्य की नहीं जानती, वह तो प्रभु की इच्छा पर निर्भर है। फिर किसी नयी बात ने मन को कुरेदा, तो फिर लिखूंगी। मैंने कहा न, मैं कहानी स्वयं नहीं लिखती, कहानी ही मुझे बहकाकर अपने अनुभव को बाणी देने को विवश करती है। हां, पाठकों की अटूट प्रीति मुझे मिली है। उपन्यासों का कई-कई भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। हिंदी-बंगला में फिल्मों भी बनी हैं। 'प्रथम-प्रतिश्रुति' को ही बंगला का 'रवीन्द्र-पुरस्कार' भी मिल चुका है—लेकिन, अब सोचती हूं, इस पुरस्कार की जगह अगर तिरस्कार भी मिला होता तो भी मैं स्वीकार करती, क्योंकि मुझे जो कहना था, कह लिया ! मैं तर्क के झमेले में कभी नहीं पड़ती। मेरे पुत्र-पुत्री, नाती-पांते-भांजे वगैरह अगर कभी मेरे लेखन के संबंध में कोई मत प्रकाशित करते हैं, तो मैं अपनी राय को ही सही ठहराने की ज़िद कतई नहीं करती। मैं लेखन में जितनी उग्र हूं, व्यवहार में उतनी ही चुप, अतः मेरा कभी किसी से मतभेद नहीं होता।'

वक्त काफी गुजर चुका है। घुघनाई शान ने रात की काली चादर ओढ़ ली है। कमरे के बाहर बहुत-से अघ्यायत-मैहमान प्रतीक्षा में हैं—कुछ गृहिणी से मिलने के लिए, कुछ लेखिका मे। मैं सीढ़ियों मे उतर रही हूँ। याद आ रहा है, इसी तरह उनका एक उपन्यास पढ़कर कुछ लड़के उन्हें सिर्फ यह बताने के लिए दौड़े आए थे कि उन्होंने फलां उपन्यास में कमरे का जो चित्र खींचा है वह बिल्कुल उनके कमरे का है, और उसमें जिम पिता की तस्वीर है वह उनके पिता की है। घर की चहार-दीवारी में रहनी हुई यह महीयसी लेखिका जाने किस दिव्य दृष्टि से, उन अनदेखे घर-कमरो का रेखाचित्र अपने नेछन में आंका करती है ! यह सब तो आम लोगो के सुख-दुख से एकान्तर हुए बिना जाना नही जा सकता। 'एइ, फिर आना जरूर !' आशा दो ऊपर की सीढ़ियों पर खड़ी यिदा दे रही थी। 'आऊंगी !' मैंने कृन्त मन से मिर हिलाया है और बाहर निकलकर महमूस किया है—घरती कुछ और ममतानयी हो आई है। आकाश कुछ और घना हो आया है। पेड कुछ और हरे-भरे हो आए हैं। अजनबी भीड़ बहुत जानी-बहानी लग रही है।

—मुशीम गुप्ता



रेत का वृन्दावन



एनामल के गमले में पड़ी हुई अमरुद को जेली काठ की चम्मच से निकाल-निकालकर, शीशे के मर्तबान में भरते हुए निवेदिता के चेहरे पर खुशो और परितृप्ति की जो आभा झलक उठी थी, वह देखने लायक थी ।

हालांकि इससे यह राय बना लेने की कतई कोई वजह नहीं है कि वह अमरुद को जेली की परम भक्त है । उसकी तरफ गौर से देखने से ही पता चल जाता है कि घाल-भर बढ़ियों को घूप दिखाते समय, भंडार की शीशो-बोतलों को झाड़-पोंछकर चमकाते समय या तकिये पर सफेद-युराक गिलाफ चढ़ाते समय, निवेदिता के चेहरे पर वही परितृप्ति और प्रसन्नता खेलती रहती है ।

वैसे जब उसे सीज होती है, तब त्योरियां चढ़ाने में भी पल-छिन देर नहीं करती । पति या पुत्र ने जूते खोलकर जहा के सहां रखने के बजाय, एकाध इंच इधर-उधर रखे हैं या नोकर ने सब्जी के छिलके घर के बाहर फेंकने की बजाय आंगन में ही डाल दिए हैं—इन पर निगाह पड़ते ही वह एक-

दम से भड़क जाती है ।

सुव्यवस्था और सफाई, निवेदिता के जीवन की एकमात्र साधना है । छोटी-सी गृहस्थी और इस गृहस्थी को गढ़ने-सजाने का सारा श्रेय निवेदिता को हो जाता है ।

यहां की हर छोटी से छोटी चीज में उसी की छुअन है ।

पंद्रह साल की उम्र में जब वह व्याहकर आई थी तब उसके पति सत्यशरण लगभग नाबालिग थे । वह अपनी विधवा मां के अंचलधन थे और अपने मामा के घर पढ़-लिखकर इंसान बने थे ।

मां की तकलीफें कम करने के साधु-संकल्प के अलावा उनके मन में तब तक और कोई चाह नहीं जगी थी । बीस साल की उम्र में बी० ए० पास करके किसी व्यापारी दफ्तर में नौकरी कर ली और मां की इच्छा पूरी करने के लिए उस मामूली-सी कमाई के भरोसे व्याह करने में रंचमात्र भी दुविधा नहीं की ।

हालांकि निवेदिता ही ऐसी कौन असाधारण घर की बेटी थी ? क्लर्क पिता के घर में वचपन निहायत उपेक्षित-सा बीता था । मां को फुरसत नहीं मिलती—इस वहाने आठ साल की उम्र से ही नन्हे-नन्हे भाई-बहनों की लगभग सारी जिम्मेदारी उसके सिर मढ़ दी गई थी ।

वैसे 'वहाना' कहना शायद सरासर अन्याय जान पड़े, लेकिन जो जरा खोज-भरी, सूक्ष्म दृष्टि से देखता उसकी राय विल्कुल भिन्न होती । खैर, अब वह जिदगी भी याद नहीं जब उसे अपने ममिया श्वसुर के यहां तीन-चार साल तक

दूसरों पर बोझ बनकर जीना पड़ा था। अब निवेदिता की अपनी गृहस्थी है, जिसे उसने खुद गढ़ा है।

सास की मृत्यु के बाद से ही वह सत्यशरण के विल्कुल पीछे ही पड़ गई और उस विशाल परिवार के कंदखाने से बाहर निकलकर ही दम लिया था।

गुरु-गुरु में डरपोक सत्यशरण निवेदिता का यह दुःसाहस देखकर दिशाहारा हो उठे थे। उन्हें यह पक्का यकीन था कि एक न एक दिन उन्हें लाज-शर्म छोड़कर, दुबारा उसी मामा के घर, उनकी जटिल गृहस्थी के भंवर में लौट आना पड़ेगा। यह बात तो वह सोच भी नहीं सकते थे कि वह भी कहीं अपनी अलग दुनिया बसा सकते हैं। उन्होंने तो सोचा था, 'अच्छा, कोई बान नहीं। जरा अकन ठिकाने आ जाएगी !'

लेकिन निवेदिता ने सबको हैरत में डाल दिया। उसने ऐसी-वैसी गृहस्थी ही नहीं रची, उस गृहस्थी को तस्वीर की तरह सजा भी लिया। विल्कुल फिटफाट, सुरुचिपूर्ण, सुव्यवस्थित, सुंदर।

हान्नाकि अपनी जिद से अलग होने के अपराध-बोध की वजह से उसने पति पर कभी रचमात्र भी किसी तरह का दबाव नहीं डाला। इतना सब कहां से हो रहा है, इस बारे में सत्यशरण को कभी कुछ पता नहीं लगने दिया, उन्होंने भी कभी खोज नहीं की। पति ने भी अपने को पूरी तरह निवेदिता के हाथों में सौंप दिया था।

यह बात भी विल्कुल अलग है कि उन लोगों ने अपनी जिदगी को अधिक जटिल बनाया भी नहीं।

सीमित गृहस्थी। सीमित जरूरतें।

चार-पांच साल पहले वेटी का व्याह कर दिया । दामाद लायक था । दूर वसे होने की वजह से कभी-कभार ही आता था । लेकिन निवेदिता को कोई मतलब नहीं था । वेटी सुखी है, यही तो चाहिए था । वैसे यह व्याह भी निवेदिता के ही अथक परिश्रम का पुरस्कार था । वरना ऐसा दामाद जुटाना क्या सत्यशरण के वश की बात थी ? और एक वेटा है— गौतम ।

यथासमय उसके मनलायक खाने-पहनने की फरमाइशें पूरी करने के अलावा और कुछ करने को नहीं था । उसकी अपनी ही तेज धार उसे तराशती जा रही थी । वह खुद ही टपाटप आगे बढ़ता गया था और अन्य लड़कों की तुलना में काफी कम उम्र में ही एम० ए० में पढ़ रहा था । उसे गढ़ने के लिए निवेदिता को और कुछ भी नहीं करना था ।

इतने दिनों बाद युद्ध-स्तर पर काम करने की जरूरत मानो खत्म हुई !

अब उनकी जिंदगी में परम निश्चल शांति आ विराजी थी ।

अब तो नरम-कोमल राह पर जिंदगी के पहिये को लुढ़का-भर देना है । हालांकि निवेदिता आज भी निःशेष नहीं हुई । इसीलिए अटूट स्वास्थ्य और अक्लांत मन लिये वह रोज़मर्रा के काम-काज में इस कदर डूब गई है कि वे कभी खत्म होने को ही नहीं आते ।

वह साफ-सुथरे विस्तर को फिर से झाड़ती, बुहारे हुए घर को फिर बुहारने बैठ जाती । पति, पुत्र और नौकर— इन तीनों प्राणियों में छोटे-मोटे नुक्स निकालकर, हर वक्त

चखचख मचाए रहती ।

वह कभी बड़ियां डालती, कभी अचार बनाती और कभी अखवार या रेडियो से नये-नये व्यंजन सीखने में व्यस्त रहती । सत्यशरण ने जिसको नाम दिया है—सनकी ।

Arushi Library & Reading Room

GEETA BHATT, 10 / LAKSH NAGAR, 2

JAIPUR-302004



सत्यशरण किसी काम से कमरे के अंदर आकर एकदम ठिठक गए, 'अब आज फिर क्या करने बैठ गईं ? कौन-सी नयी सनक सवार हुई ?'

'नयी नहीं जी, पुरानी !' निवेदिता हस पड़ी, 'देखो न, कैसा खूबसूरत सोने जैसा रंग निकल आया है ? अमरुद अच्छे थे ।'

निवेदिता अवसर ही ऐसी सुनहरे रंग की जेली बनाया करती है, लेकिन हर बार जैसे अपनी खूबी पर खुद ही मुग्ध और पुलकित हो उठती है । हर मामले में उसका यही स्वभाव

है। सत्यशरण को प्रायः हर हफ्ते ही यह सुनना पड़ता था, 'एइ, देखो विस्तर कैसा उजला लग रहा है ? तुम्हारे घोबी से बेहतर !'

सत्यशरण अगर अनजाने भी कभी नौकर की तारीफ कर बैठते, तो निवेदिता हंसते-हंसते लोटपोट हो जाती, 'हां ! हां ! उसी मुगालते में रहो। अरे, फटिक क्या, फटिक के बाप के भी बूते की बात है कि एक भी तकिये का गिलाफ इतना धब्धव् सफेद धो सके ? यह श्रीमती निवेदिता देवी ने धोया है, समझे ?'

'वेशक, वेशक ! तुम जरा ऊंचे किस्म की रसोईदारिन या घोबिन रही होगी !'

दोनों में प्रायः इसी तरह की बातचीत। इसी तरह की हंसी-दिल्लगी। वस्स।

बातचीत या वहस-मुवाहसे में किसी तरह की विचित्रता लाना, सत्यशरण-जैसे सीधे-सादे इंसान के बश की बात नहीं थी।

निवेदिता में यह खूबी थी या नहीं, इसकी खोज-खबर किसी ने नहीं ली। आत्मीय स्वजन तो उन्हें एक ही थैली के चट्ट-वट्टे समझते थे। वैसे निवेदिता का बहुत मन करता था कि गौतम से वह स्कूल-कालेज के बारे में बात करे। वह उसे कुरेदकर यह जानना चाहती थी कि सारे दिन वह क्या करता है, किससे मिलता-जुलता है, वगैरह-वगैरह।

जज की तरह नहीं, दोस्त की तरह।

लेकिन गौतम काफी गंभीर स्वभाव का लड़का है, उससे बहुत दूर तक बातचीत आगे नहीं बढ़ पाती।

इसीलिए मन के काम जैसे-जैसे खत्म होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे हाथ के काम बढ़ते जा रहे हैं।'' कौन जाने, मन अभी भी निःशेष नहीं हुआ, यह शायद उसी की अभिव्यक्ति है।

सत्यशरण निवेदिता की बात पर दुबारा हंस पड़े, 'मैं कह रहा था, अपना सोने जैसा रंग काला करके, सुनहली-सुनहली जेली बनाकर क्या होगा ? इतना सारा खाएगा कौन ?'

'तुम्हारी भी जैसी बात होती है न ! इत्ती-सी तो है ! खत्म होते कितने दिन लगेंगे ? दोतल में लगता है बहुत ज्यादा है। पिछली बार तो इससे भी ज्यादा बनाई थी !'

दम्पती की आपसी बातचीत की सीमा लगभग यही तक थी।

मुमकिन है, निवेदिता की बाकी जिंदगी भी इसी तरह बीत जाती। मुमकिन है, नये के नाम पर, चालीस की उम्र पार करते ही गुरुमंत्र ले लेती, थोड़ा बहुत पूजा-पाठ करते हुए उम्र और आचरण में तालमेल बनाए रखती। हां, अपने ईहलोक और परलोक में सामंजस्य बनाए रखती।

''मुमकिन है, कुछ दिनों बाद बेटे का व्याह करके, बहू को सुशिक्षा देने की कोशिश में जरा और चिड़चिड़ी हो जाती, और धीरे-धीरे निःशेष हो जाती, अगर ..



हां, दुर्गा-पूजा के समय अगर वह पुरी घूमने न आती। हालांकि घूमने आना भी निवेदिता की ही कोशिशों का नतीजा था।

सत्यशरण ने जब उसका प्रस्ताव सुना तब हजारों असुविधाओं की फेहरिस्त गिनाकर उसे टालना चाहा था, लेकिन सब बेकार।

निवेदिता ने जवाब दिया, 'जिंदगी-भर तो सुविधा-सुव्यवस्था ही करती आई। अब जरा असुविधा-अव्यवस्था का भी स्वाद लेकर देख लूं... एक बहुत बड़ी सुविधा तो मिल ही रही है—घर की। घर भी क्या हर वक्त मिल सकता है?'

गौतम काफी गंभीर लड़का था। प्रस्ताव जब तक उसके पास नहीं पहुंचा था, वह खामोश रहा।

प्रस्ताव सुनते ही उसने कहा, 'मेरी पढ़ाई का नुकसान होगा। सोचा है इन छुट्टियों में...'

निवेदिता ने कहा, 'वहां तुझे पढ़ने को कौन मना करता है? अपनी किताब-कापी साथ ले चल।'।

'यह कैसे हो सकता है? मैं और एक और लड़के ने मिलकर तय किया है कि एक प्रोफेसर के यहां पढ़ने जाया करेंगे।'।

निवेदिता ने किंचित आहत होकर कहा, 'इतना सब

ठीक-ठाक कर लिया, लेकिन मुझे बताया तक नहीं ?'

गौतम ने मुस्कराते हुए कहा, 'इसमें बताने की क्या बात है ? फीस तो लगेगी नहीं...'

निवेदिता ने पति से कहा, 'तब उसे रहने दो । आखिर वह मर्द है । लडका है, जिंदगी में जाने कितने मौके आएंगे । लेकिन मैं जाऊंगी ही...'

मैं यानी हम दोनों ।

बेटे की आपत्ति सुनकर सत्यशरण के मन में उम्मीद बंधी थी कि जाना स्थगित करने का यह एक ज़बर्दस्त कारण मिल गया ।

लेकिन निवेदिता का संकल्प सुनकर अवाक् रह गए । उन्होंने पूछा, 'वह रह जाए ! खाएगा क्या ?

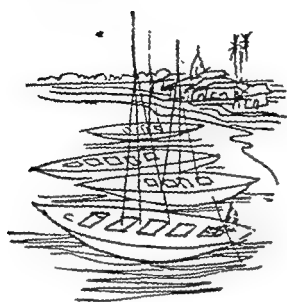
'फटिक रहेगा । जो कर सकेगा, करेगा । दोनों जन खा लिया करेंगे । मैंने तो सोचा था कि चारों जन चलेंगे । लेकिन जब यह संभव नहीं है, तो और किया भी क्या जाए ? उस छोकरे फटिक की किस्मत में ही नहीं है...'

आखिर सत्यशरण ने निरुपाय होकर अपने को नियति के हाथों सौंप दिया ।

कई दिनों बाद काफी लंबे-चोड़े माल-असबाब और एक अदद पति को लेकर निवेदिता पुरी आ पहुंची ।

हालांकि पति विचारे को काफी डरा-धमकाकर लाई थी कि वह असुविधा और अव्यवस्था का स्वाद पाने के लिए ही जा रही है, लेकिन असल में व्यवस्था और सुविधा के आगे 'अ' बिठाने का मौका ही नहीं दिया उन्होंने । यह भी उनकी एक किस्म की सनक थी ।

उनकी तैयारी में कोई त्रुटि रह जाए, इतनी सहन-शक्ति निवेदिता के स्वभाव में ही नहीं थी—खास कर सत्यशरण के मामले में ।



लेकिन यहां आकर निवेदिता मानो अचानक ही बदल गई ।

मानो उम्र का बहुत बड़ा हिस्सा उसके हाथों से फिसल गया ।

निवेदिता यहां आकर समय का ज्ञान जैसे भूल ही गई । वह तन्मय होकर सीपियां बटोरती, रेत में पांव धंसाकर अपने पंगु रूप पर स्वयं ही हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाती, जरा-सा एकांत पाते ही दौड़-धूप के खेल में मगन हो जाती ।

सत्यशरण ने कहा, 'यहां आकर तो तुम निरी वच्ची बन गई हो !'

यह बात सच भी थी । केवल उम्र के लिहाज से नहीं, अपने गुरु-गंभीर बेटे गौतम के बड़े होने के साथ-साथ, बेहद स्वाभाविक ढंग से निवेदिता के भी स्वभाव पर गंभीरता की एक 'कोटिंग' चढ़ती गई थी । वह गांभीर्य मानो यहां सागर की उद्दाम हवाओं में चिदियां बनकर उड़ गया था ।

सत्यशरण मानो उसे पकड़ नहीं पाते !

मानो वह कुछ वीखला गए थे ।

वहां का कांसा बहुत बढ़िया होता है, इसीलिए निवेदिता वर्तन खरीदने के लिए काफी सारे रुपये अलग से लाई थी । लेकिन उनका सदुपयोग करने का चाव आखिर कहां चला गया ? वह तो दुकान-घाट की ओर जाना ही नहीं चाहती । घूमने जाने के नाम पर नै-देकर यह समुद्र-तट । यह रेत का वृंदावन क्या उसे इतना पसंद आ गया ?



उस दिन शाम हो आई, लेकिन निवेदिता सीपिया चटोरने में ही व्यस्त थी ।

सत्यशरण के हाथ में एक भोला था । निवेदिता बिना कुछ सोचे-समझे छोटी-बड़ी मंभोली—सभी साइज़ की सीपियां चुन-चुनकर भोले में भरती जा रही थी ।

सत्यशरण ने वेसुघ होकर पूछा, 'अच्छा, पागलों की तरह

सिर्फ सीपियां ही बटोरे जा रही हो ! इतनी सीपियों का आखिर होगा क्या ?'

निवेदिता बोली, 'जब जाने लगूंगी, समुद्र की चीज समुद्र के ही हवाले कर जाऊंगी !'

सत्यशरण तो विल्कुल दिशाहारा हो उठे । पूछा, 'इतने दिनों इतनी मेहनत से चुनती रहोगी, सब फेंक दोगी ?'

'और नहीं तो क्या ? चुनी हैं, इसलिए वस्ता-भर सीपियां लादकर कलकत्ता ले जाऊं ?'

'तब इतनी सारी सीपियां इकट्ठी क्यों कीं ?'

'क्यों कीं ?' निवेदिता ने हाथों में लगी रेत झाड़ते हुए कहा, 'तब तो कलकत्ता छोड़कर पुरो आने की क्या जरूरत थी ?'

'...अच्छा, अब बहुत हुआ ! देखो, अंधेरा हो आया, दिख भी नहीं रहा है । चलो...'

अचानक पीछे से किसी ने गंभीर लेकिन कौतूकी लहजे में आवाज दी, 'बगैर अनुमति के बात कर रहा हूं, कृपया गलत न समझें ! लेकिन विचारे इस समुद्र-तट को विल्कुल दिवालिया कर जाने को कसम खाकर आई हैं ?'

दोनों ने चौंककर पीछे की तरफ देखा ।

सौम्य कांति, मंझोली उम्र के एक सज्जन ।

सिर पर हल्का-सा गंजापन । आंखों में काले फ्रेम का चश्मा । वदन पर ढीला-ढाला सफेद महीन कुर्ता । सद्यः संध्या के झुटपुटे ने मानो हर किसी पर स्निग्धता बिखेर दी थी ।

तीनों में नमस्कार का आदान-प्रदान हुआ ।

अब नवागंतुक ने ही दुबारा कहा, 'चार दिन हुए, यहां

आया हूँ। आपने सरकारी दफ्तर से यह पता कर लिया है कि सीपियों पर कहीं कोई टैक्स तो नहीं लगता ?'

इस बार सत्यशरण ने ही निवेदिता की तरफ से जवाब दिया, 'इसकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी, साहब ! उन्होंने पहले से फैसला कर रखा है, जाते समय समुद्र की संपत्ति समुद्र की ही लौटा जाएंगी !'

उनके उत्तर ने नवागंतुक को किंचित विस्मय में डाल दिया, जो उनकी आवाज से साफ जाहिर हो उठा, 'अच्छा, यह बात है ? लेकिन ऐसा क्यों ?'

इस बार सोधे-सीधे निवेदिता ने ही जवाब दिया, 'इसमें बुरा क्या है ? खुशी भी मिल गई और टैक्स का भी डर नहीं रहा !'

'वाकई, आपकी परिकल्पना तो नई किस्म की है ! इस की तो आध्यात्मिक व्याख्या भी की जा सकती है।'

सत्यशरण ने कहा, 'तब फिर चलिए न हमारे यहाँ ? एकाध पल बैठकर जितनी कुछ व्याख्या-वाक्या है सब हो जाएगी।'

आगंतुक ने हसकर पूछा, 'कहाँ है आपका घर ?'

'यही... वस, जरा-सी दूर',

'इस रेत की तरह—जरा-सी दूर ?'

सत्यशरण हस पड़े, 'आपने ठीक ही कहा ! रेत का रास्ता बड़ा दगावाज होता है ! आधा मील दूर से ही लगता है—यह रहा ! विल्कुल सामने ही तो ! ...आप कहा ठहरे हैं ?'

सज्जन ने एक मशहूर होटल का नाम लिया।

'अरे, वाह ! वह तो हमारे घर के विल्कुल करीब है !

आपने 'तीर्थ कुटीर' नहीं देखा ? तब फिर क्या है ? चलिए, चला जाए ! इस गरीब के गरीबखाने में चरण-धूलि देकर, अपने दौलतखाने में लौट जाइएगा ! ...वात यह है, जनाव, कि हम लोग ठहरे कलकत्ते के लोग ! जहां भी जाएं, दो ही दिनों में हांफ उठते हैं ।'

'समुद्र-तट पर आकर आप हांफ उठे, क्या कह रहे हैं ? लगता है, विज्ञान तक को आप उड़ा देना चाहते हैं ?'

उन्होंने मोहक-सा ठहाका लगाया । सचमुच उनकी हंसी बेहद मोहक और उन्मुक्त थी ।

निवेदिता पति के इस कांडज्ञान के अभाव पर मन ही मन संकोच-बोध किए बिना नहीं रह पाई । ...अरे, भई, रास्ते में मुलाकात हुई, दो बंगाली आपस में बात कर लें, बस्स... किस्सा खत्म ! उसे घेर-घारकर घर ले जाने का क्या तुक है !

उसने पति से कहना भी चाहा, तुम तो अजीब आदमी हो ! वह शायद अभी-अभी घर से निकले हैं, अभी घूमना बाकी हो...और तुम उन्हें पकड़कर घर ले जाना चाहते हो ? लेकिन बोलना चाहकर भी वह रुक गई । कौन जाने, अगर उसकी अनिच्छा पकड़ में आ जाए ? अतः उसने अपने ही ख्याल को कैसिल करते हुए कहा, 'अरे, उनकी बात छोड़िए ! वह तो प्रति वार विज्ञान को अज्ञान करके ही दम लेते हैं । लेकिन अगर हांफते न भी हों, तो बंधु-लाभ का मौका भी क्यों खोएं ?'

यह कहते हुए निवेदिता के चेहरे पर संतोष झलक आया । मानो वह बहुत बढ़िया बात कह गई थी ।

उन सज्जन ने भी पलटकर जवाब दिया, 'खैर, यह तो दोनों पक्षों के लिए लागू होता है, लेकिन भई, यह तो आपकी नीति से मेल नहीं खाता ?'

निवेदिता ने नीति की बात पर उसकी तरफ अवाक् होकर देखा ।

अंधेरा हो चुका था । चेहरे के भाव अब ठीक-ठीक दिखाई नहीं दे रहे थे, लेकिन फिर भी उन सज्जन ने कुछ अंदाज लगाते हुए कहा, 'खुशी के मुआवजे में अहसान चुकाना तो आपकी आदत के खिलाफ है ?'

'ओह, यह बात है ! लेकिन अहसान कैसा ? दोस्ती पर टैक्स देने की जरूरत नहीं पड़ती !'

'लेकिन चाय की जरूरत पड़ती है ! देख लीजिए, कहीं ऐसा न हो कि बैठे-विठाए मुसांवत मोल लेनी पड़े ।'

सत्यशरण को भी ये सरस बातें काफी पसंद आने लगी ।

वह स्वयं बिल्कुल वाक्पटु नहीं है, लेकिन हंसी-दिल्लगी, मंत्री-परिचय उन्हें काफी प्रिय थे । वह निवेदिता की कुंठा-हीन पटुता पर भी मुग्ध हो उठे ।

यह उनकी आज की नहीं, हमेशा की आदत थी ।

घर पर भी मेहमान-कुटुब, समघो-दामाद, औरत-मर्द चाहे जो आए, उनके स्वागत-सत्कार का भार निवेदिता पर ही रहता था । उसे ही अपने काम में हर्ज करके, उनकी सम्मान-रक्षा के लिए उनके पास बैठना होता ।

सत्यशरण अनाड़ी थे । गौतम तटस्थ ।

सचमुच वह हर किसी से उनके मन-भुताविक निर्वाह कर लेती थी ।

इस दिन वह सज्जन आए तो सही लेकिन बैठे नहीं । अगले दिन चाय का निमंत्रण हथियाकर उन्होंने विदा ली । उन्होंने जाते-जाते कहा, 'खैर, अब तो घर पहचान गया, अब भला कौन ठग सकता है ?'

बल्ब की रोशनी में उस इंसान को एक बार फिर आपाद-मस्तक परखने का मौका मिल गया । अघेड़ उम्र । निवेदिता से शायद दो-एक साल बड़ा । मुमकिन है, उसकी उतनी उम्र न हो, लेकिन चेहरे पर फैली हुई सौम्यता के कारण वह कुछ बड़ा लग रहा था ।

लेकिन स्वभाव से काफी सरल ।

गंभीर स्वर, लेकिन भाषा में सरस कौतुक की हीरक-धार ।

राह चलते-चलते ही उन लोगों ने एक-दूसरे का परिचय जान लिया ।

वह एक गैर-सरकारी कालेज में प्रोफेसर थे । विवाह नहीं किया । साल की दोनों लंबी छुट्टियों में कहीं आस-पास घूमने निकल जाना उनका शौक था । नशे के नाम पर पढ़ना और पढ़ाना । जो किताब अच्छी लगती, दस बार पढ़ डालते, जो जगह अच्छी लगती पांच बार घूमने जाते ।

पुरी भी इस बार को मिलाकर चार बार आ चुके हैं ।

उनकी बातें सुनकर निवेदिता की आंखें हैरत से फैल गईं, 'भला बताइए तो, ऐसा क्यों ? हिंदुस्तान के बाकी सब प्रदेशों ने क्या गुनाह किया है ?'

प्रोफेसर हंस पड़े, 'साल में दो नये प्रदेश देख डालूं तो भी क्या समूचा हिंदुस्तान देख पाऊंगा ?'

‘फिर भी, कमोवेश अच्छी-अच्छी जगहें तो देख लेंगे ?’

‘नहीं, फिर यह ख्याल सालता रहेगा कि अभी क्या देखा ! दुनिया की कितनी-कितनी खूबसूरत जगहें अदेखी रह गई !’

सत्यशरण ने शायद इस बातचीत में हिस्सा लेने की गरज से, प्रोफेसर की इस बात पर छूटते ही कहा, ‘हां, और क्या ? ऐसे उम्मीद-अरमानों पर तो खाक डाल देना ही बेहतर है ! क्यों, आपका क्या ख्याल है ?’

अपने घर से निकलकर, उन्हें होटल तक पहुंचाने के लिए, वे लोग कुछ दूर तक साथ-साथ आए थे । उनसे अगले दिन आने का बार-बार आग्रह भी किया ।

प्रोफेसर ने कहा, ‘भई, आप दोनों प्राणियों के बीच मैं तीसरा व्यक्ति बनकर, आपका अभिशाप क्यों बटोरू ?’

उन्होंने मुस्कराते हुए निवेदिता की ओर देखा ।

निवेदिता कोई उत्तर दे, इससे पहले ही सत्यशरण को अपने कर्त्ता होने का दायित्व-बोध याद आ गया । उन्होंने छूटते ही कहा, ‘अरे, नहीं ! नहीं ! यह क्या बात है ? आप ऐसा कुछ भी मत सोचिए । दरअसल, यह मन की बहुत भली हैं ।’

‘अच्छा ? तब तो आप काफी खुशकिस्मत हैं ।’ प्रोफेसर की उन्मुक्त हंसी से समूची निर्जन बालुका-भूमि मुखर हो उठी ।

निवेदिता मन ही मन रुष्ट हो उठी, ‘ठहरो ! घर लौट-कर तुम्हें मजा चखाती हूं । जहां-तहां ऐसी बेवकूफी की बातें न करो, तो क्या काम नहीं चलता ?’

घर लौटने तक निवेदिता अपने पर काबू नहीं रख पाई। उसने रास्ते में ही डांटना शुरू कर दिया, 'तुम क्या समझते हो ? तुमने क्या बड़ो बुद्धिमानी की बात की है ?'

'क्यों ? क्यों ? कौन-सी बात, जी !'

'मन की बहुत भली है'—पति की नकल उतारते हुए उसने कहा, 'वाह ! वाह ! भले आदमी कैसे हंस दिए थे !'

सत्यशरण ने सिर खुजलाते हुए जवाब दिया, 'वाह ! इसमें हंसी की क्या बात थी ? जो भला है, उसे भला नहीं कहेंगा ?'

'नहीं, जरूरत नहीं है। काश, तुम्हारी किसी बात का सिर-पैर होता ! मैं पूछती हूँ, चट् से उन्हें घर ले आने की ही क्या जरूरत थी ? हम दोनों मजे में थे, अब वह घर आ-आकर उत्पात मचाएं !'

सत्यशरण ने असहाय भाव से समझाने की कोशिश की, 'अहा, तुम समझ नहीं रहे हो ! विचारे भले मानस ने खुद आगे बढ़कर परिचय किया ! हम लोगों की तरफ से भी आग्रह दिखाना क्या उचित नहीं था ?'

'अच्छा ! लगता है, समुद्र की हवा खाकर तुम्हारा औचित्य-ज्ञान अचानक खुल गया ! तुम्हें तो इस बला से कभी कोई मतलब नहीं था ?'

'लो ! तुम तो हर बात में मजाक करने लगती हो ! लेकिन, उस समय तो तुम भी खास नाराज़ नहीं दिखी थीं, देवी ! अब क्यों इतना विगड़ रही हो ?'

'और क्या मैं गलत कहती हूँ कि तुम्हारी बुद्धि की वजह से कभी-कभी मर जाने की तबीयत होती है। अरे, तुम

जिससे भद्रता निभाते हुए 'आइए जनाव' कह रहे हो, अगर मैं भी उसको थोड़ी-बहुत इज्जत न दूँ, तो वह आदमी आखिर क्या सोचेगा...अरे...अरे...यह क्या कर रहे हो ?'

अपना कुर्ता उतारकर वरामदे की अरगनी पर फैलाते हुए सत्यशरण सिटपिटा गए। पुरी की विश्रामहीन तूफानी हवा में वह किसी तरह भी कुर्ता नहीं फैला पाए। आखिर हारकर उन्होंने अपना मुड़ा-मुड़ा कुर्ता निवेदिता का सौंपते हुए कहा, 'असंभव ! मुझसे नहीं होगा। पुरी का वाकी सब कुछ ठीक है, लेकिन बाबा, दिन-रात का यह आंधी-तूफान असहनीय है।'

निवेदिता ने कुशल हाथों से कुर्ते को डोरी पर फैला दिया और अपनी चेन में से दो सेपटी पिन निकालकर कुर्ते में लगाते हुए कहा, मुझे तो बस, इसीलिए सब कुछ इतना अच्छा लग रहा है, तूफान ही तूफान। सारे-सारे दिन-रात तूफान की भकोर। जैसा सागर, वैसी हवा। विरामहीन ! विश्रामहीन !'

'यहा आकर तो तुम कवि बन गई हो !' सत्यशरण यह कहते-कहते हाथ-मुंह धोने चले गए। सब बातों से यह थी कि निवेदिता का यह नया रूप उन्हें विल्कुल अच्छा नहीं लगा था। कहीं से असुविधाजनक लगा था और किंचित भय-भीत कर गया था। हुंहः, आंधी-तूफान अच्छा लगता है—यह सुनते ही सारे शरीर में झुरझुरी फैल गई थी। बात दर-असल यह है कि—'दुनिया भर में एकमात्र प्रिया और मैं'—ऐसी निःसंग स्थिति की कल्पना कभी उनके दिमाग में ही नहीं आई थी।

सारा गुस्सा गौतम पर जा पड़ता है।

काश, वह भी साथ आ जाता। उसके आने से फटिक भी आता। यानी तब घर विल्कुल घर-जैसा लगता।... एकदम से विल्कुल अकेले-अकेले ! ऐसे में बातचीत के लिए एक भला मानस जुटा भी, जिससे दो-एक बातें करके जान में जान आए, तो निवेदिता को अखर गया। हैरत है !

हंहः, सिर्फ बीबी से बातें ?

बातें भी आखिर कब तक की जा सकती हैं ?



उन भले मानस का नाम था—यतिश्वर मुखर्जी।

घर पर मां और दो भाई-भाभियां हैं। खुद व्याह नहीं किया। हल्की-फुल्की जिंदगी, मजे में थे। हालांकि किताव-विताव में ही डूबे रहना अच्छा लगता था, लेकिन अड़्डेवाज भी थे। सौ बात की एक बात यह थी कि वह हर किस्म के आदमी से दोस्ती गांठ सकते थे।

वैसे बुद्धिमान जीव थे।

इन लोगों से ज़रा-सी ही मुलाकात में पूरी स्थिति का

अंदाजा लगा लिया। उन्होंने मन ही मन तारीफ की, गिन्नी (गृहिणी) तो खासी होगियार है, लेकिन बेचारा कर्ता ! बुद्ध-बुद्ध-सा, भलाभानस ! कल उनके यहां जाना ही होगा !



तूफान ! और तूफान !

नही, ठीक तूफान कहना भी गलत है... तूफानी हवा। मुट्ठी-मुट्ठी-भर गीली नमकीन रेत उड़-उड़कर बाल, कपड़े और घरों के अंगने-कोने में जमा होता जा रही थी। अरगनी पर लटकता हुआ सत्यदरण का कुर्ता अभी तक झूल रहा था, मानो वह शून्य में सिर पटक-पटककर प्राण दे देने को आमादा हो।

वरामंद में समुद्र दिखाई नहीं पड़ता, उसे देखने के लिए छत पर जाना पड़ता है। यहां से तो सिर्फ गर्जन ! अतहीन, अविश्रांत !

शायद वह कृष्णपक्ष की रात थी। आकाश में सिर्फ तारे ही तारे।

निवेदिता, शाम से ही खाली पड़ी आराम-कुर्सी पर आकर बैठ गई। जाने कितनी रात बाकी थी। दो या ढाई बजे होंगे।

यूँ चुपचाप, अकेले-अकेले पड़े रहना खूब भला लग रहा है ।

रोज़मर्रा की जिंदगी से जमीन-आसमान का फर्क !

यहां वह कलकत्ते वाली जानी-पहचानी निवेदिता बिल्कुल नहीं लगती । बैठे-बैठे समूचे शरीर में भुरभुरी फैल गई, देह जैसे अकड़ गई, लेकिन फिर भी उसे उठने की कोई जल्दी नहीं है । उसने सिर्फ अपना आंचल खींचकर गले तक लपेट लिया ।

जाने क्यों नींद नहीं आ रही है ।

उसे खुद अपने पर हैरानी होने लगी ।

कलकत्ते वाले घर में कभी वह कल्पना भी कर सकती थी कि इस तरह आधी रात तक जगी हुई खुले आकाश के नीचे चुपचाप बैठी रहे !

कलकत्ते में समुद्र न सही, हवा तो है ?

समुद्र की उत्ताल तरंगों के थपेड़े सहती-सहती जो हवा समुद्रहीन नीरवता के देश पर बिखर जाती है, किसी-किसी वैसाखी शाम या आश्विन की रातों में वही हवा अपने साथ सागर-गर्जन भी वहा लाती है, और समुद्र की तरह ही दर्द से पागल होकर सारे-सारे दिन, सारी-सारी रात सिर धुनती रहती है । निवेदिता ने तूफानी हवाओं का यह पागलपन तो बहुत बार देखा है ।

लेकिन उसने अपने को कभी इतना असहाय महसूस नहीं किया !

अपने को कभी इस तरह गुम नहीं होने दिया !

ऐसे बिखरे-बिखरे दिनों में तो वह अपने बाल-बच्चों

को खांसी के नाम पर डराया-घमकाया है, हाथ-पैर-गले तक मोटे-मोटे कपड़े पहनने को विवश किया है ।

दिन हो या रात, अपने भरसक कभी भी खिड़की-दर-वाजे खुले नहीं छोड़े, ताकि धूल को वजह से घर न गंदा हो । धूल से खीफ खानेवाली इस सनक के कारण, सत्मशरण से कई बार भगड़ा तक हो गया है ।

यहां हर ओर भीगी हुई नमकीन रेत ।

लेकिन निवेदिता का इस ओर ध्यान ही नहीं जाता । यह निवेदिता आखिर कौन है ?

बहुत दिनों पहले अपने नन्हें-नन्हें रुमटे भाई-बहनों का रोना-बिसूरना सभालते हुए, बीच-बीच में जो खुद रो देती थी, वह ?

या वह जो विशाल परिवार की भीड़ में खोई हुई घूँघट वाली दुलहन, जो हर घड़ी दूसरों को खुश करने में दिन गुजार रही थी और हर वक्त भविष्य की रंगीन तस्वीर आँका करती थी ? क्या उसी का नाम निवेदिता है ?

और यह जो, अपने ही परिमंडल में दीप्त, उज्ज्वल, अपने ही आत्मबोध से संयत, सचेतन, महिमामयी निवेदिता है ? जो बहुत-से लोगों के भय या सम्मान या ईर्ष्या की पाश बनकर राज कर रही है, यह कौन है ?

इतने दिनों से वह जिसे सचमुच ही 'निवेदिता' समझती आई है, उसके अलावा और भी कहीं कोई है, जिसका नाम 'निवेदिता' है ?

अच्छा, वह निवेदिता क्या वाकई जिंदा थी ?

या उसने नया जन्म लिया है ?

उसकी सूरत-शक्ल कैसी है ?

सुना है, इंसान बार-बार जन्म लेता है, बार-बार मरता है ! देहांतर के स्वीकृत नियमों के अनुसार ही जन्म-मृत्यु का यह सिलसिला चल रहा है !

लेकिन कभी-कभी देहांत के बिना ही, इंसान एक ही शरीर में कई-कई मौतें नहीं मरता ? या एक ही जन्म में कई-कई बार जन्म नहीं लेता ?

इंसान तो हर पल मरता है, हर पल नये रूप में जन्म लेता है ! इतने ढेर सारे जन्म-मृत्यु से गढ़े हुए इंसान को आखिर 'एक-अकेला' कैसे कहा जाए ? आखिर उसके हर रूप को कैसे पहचाना जा सकता है ?

'यह क्या ? तुम कब उठकर, इस तूफानी हवा में आ बैठी ?' सत्यशरण डेक-चेयर के पास आकर खड़े हो गए ।

निवेदिता भी शिथिलता छोड़कर उठ बैठी ।

'जरा देर पहले ही तो आई हूं, और तुम यहां भी हाज़िर हो गए ? क्या लगा, मैं तुम्हें छोड़कर कहीं भाग तो नहीं गई ?'

'हां, ऐसा ही कोई ख्याल आया था ! तभी तो वौखलाया हुआ तुम्हें खोजने निकला ! अच्छा, अब चलो, अंदर चलो । काफी हवा खा ली !'

'तुम चलो न, मैं आती हूं, या तुम भी बैठोगे जरा देर ?'

'मेहरबानी रखो ! घर का जो हाल है ! खूंदी पर टंगे हुए सारे कपड़े जमीन पर लोट रहे हैं और तुम्हारे मेज़पोश का कोना उड़-उड़कर पंखे से टकरा रहा है और लग रहा है, जैसे कोई चप्पल पहनकर सारे कमरे में घिसट रहा

है ! ...मैं तो काफी देर का जगा हुआ हूँ । तुम्हें ही हवा खाते-खाते वक्त का अहसास नहीं है !'

निवेदिता उठ गई, 'चलो, तुम सो जाओ ! मैं यह कुर्सी और तुम्हारा कुर्ता समेटकर आती हूँ ।'

अरे ? यह कुर्ता अभी तक यहीं है ? कमाल है ! पिन का खोंच लगकर कहीं फटफुटा तो नहीं गया ?'

फट जाए तो बला टले ! तुम्हारा कंधों-लटकता कुर्ता है न ?'

निवेदिता अभ्यस्त भाव से लौट आई थी । अभ्यस्त कुशलता से पलक झपकते ही कुर्सी और कुर्ता यथास्थान रखकर वह विस्तर पर आकर लेट गई !

सत्यशरण ने कहा, 'यहां आकर, तुम जाने कहा से बदल गई हो !'

निवेदिता भी हंस दी, 'बदल तो जाना ही चाहिए । वरना 'चेंज' का मतलब क्या हुआ ? इतना रुपया खर्च करके आने की ही क्या जरूरत थी ?'



सुबह आमंत्रित अतिथि के कारण चाय के साथ नाश्ते का आयोजन कुछ बढ़ गया ।

निवेदिता ने काफी कुछ वना डाला था ।

अचानक वरामदे में आकर पति से कहा, 'तुम्हारे मेहमान तो खूब आए ! कल शराफत के मारे आने का वादा तो कर लिया । मेरे लिए कर्मभोग !'

'वाह ! यह कैसे हो सकता है ! हम लोगों ने इतना-इतना कहा ! और वह खुद भी—लेकिन अभी कोई खास देर नहीं हुई ! आते ही होंगे !'

'रात के समय देखा है, घर तो पहचान लेंगे ? यहां आकर तो मेरे सामने सारे रास्ते गडमड हो गए हैं ।'

'तुम अपनी बात तो रहने दो ! सुना नहीं, वह महाशय यहां चार-चार बार आ चुके हैं ! क्या-क्या वना डाला ?'

'हाथी-घोड़ा... बहुत कुछ ! जैसी तुम्हारी आदत ! समाज-घर-गृहस्थी दो दिन के लिए हवा खाने आई तो यहां भी जाने कहां-कहां से झमेला जुटा लिया ।'

सत्यशरण किंचित आहत हो उठे ।

निवेदिता को सचमुच कोई परेशानी होगी, उन्हें यह स्वप्न में आशंका नहीं थी। वह तो लोगों को खिला-पिला-कर खुश ही होती है।

वह कुछ बोलने ही जा रहे थे कि उन्होंने देखा, निवेदिता की चढ़ी हुई नाक-भौंह की जगह, अचानक उसके चेहरे पर अनुपम उजली आभा चमक उठी। वह दोनों हाथ जोड़कर किसी का स्वागत कर रही थी, 'अरे, आइए। इतनी देर से आपकी खूब-खूब बुराईया कर रही थी।'।

सत्यशरण ने राहत की सांस ली।

यानी अभी तक वह मजाक कर रही थी।



सचमुच यतिश्वर काफी दितचस्प इंसान है।

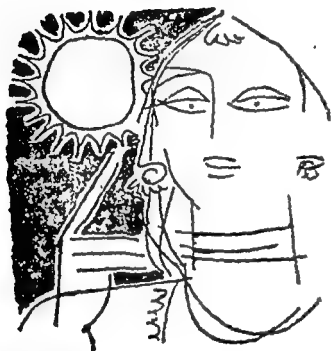
खाने के मामले में ऐसा एक खुश-भुश माहौल भी रचा जा सकता है, निवेदिता सच ही नहीं जानती थी।

जिंदगी में अनेक बार खाना तैयार किया है, बढिया-बढिया डिशेज बना-बनाकर, लोगो को बुलाकर खिलाया-

पिलाया भी है। वैसे भी उसके खाने की कहीं तारीफ नहीं की जाती, यह बात भी नहीं थी। उसके देवर-नंदोई वगैरह कितना हो-हुल्लड़ मचाते हुए, हर चीज खूब स्वाद ले-लेकर खाते-पीते हैं, लेकिन ऐसी परिमार्जित, शिष्ट, सरस तारीफ और किसी ने कभी की थी ?

ऐसी तारीफ भला किसे आती है ?

वे सब तो जाने कैसे स्थूल लगते हैं।



यतिश्वर ने कहा, 'आप तो चेंज में आई हैं न ? इतना सारा जुगाड़-पानी कहां से कर लाई ?'

निवेदिता ने भेंपते हुए जवाब दिया, 'आपने ऐसा कौन-सा जुगाड़-पानी देख लिया ?'

'भई, इस मामले में मैं क्या खाक जानता हूं ? खाना बनाने में बहुत-सी चीजों की जरूरत पड़ती है; वस, इतना-भर ही जानता हूं। अच्छा, आपको एक निहायत घरेलू बात बताऊं ! यूँ मैं हमेशा अकेला ही निकलता हूं, लेकिन एक बार मेरे मंभले भैया को भी शौक चरया। सो वह सपरिवार मेरे

संग हो लिये । अच्छा, भई, चलो ! ज्यादा दूर नहीं, बिल्कुल करीब ही, घाटशिला तक । वहां मेरे एक छात्र का मकान था ; माली किस्म का एक नौकर भी मिल गया । सो हम सब काफी खुश थे ।—लेकिन सामान समेटने-जुटाने की तैयारियों का क्या कहना ! स्टोव आया, कुकर भी आया । मंझले भैया ने और कुछ नहीं तो कांच, एल्फ़मिनियम, एनामैल के एक डेरी बर्तन ही खरीद डाले । हरेक तरह की शीशी-बोतल-डिब्बे । आखिर मुझसे जब नहीं रहा गया तब पूछ ही बैठा—‘मंझले दा, यह सब आखिर क्या कर रहे हो ? तुम क्या समूचा कलकत्ता ही उठाकर ले जाना चाहते हो ?

‘मंझले भैया ने कहा—तू कुछ नहीं समझता ! औरतें किसी किस्म की अव्यवस्था या असुविधा बरदाश्त नहीं कर सकतीं । भई, तेरी मंझली भाभी को फरमाइश है । जरा भी इधर-उधर होने का उपाय नहीं । सारा कुछ ठीक-ठाक होना जरूरी है ।

‘मैंने भी मन ही मन स्वीकार किया है, औरतों के मामले में बाकई में कोई दावा नहीं कर सकता ! और जरा-सा इधर-उधर होने से ऐसा क्या सर्वनाश हो सकता है, यह भी मुझे नहीं मालूम था ! खैर, साहब, दिन बड़े आराम से बीतेंगे, बस, इसी मीज में डूबे हुए थे । जा बाबा ! पहली ही रात से सुव्यवस्था का जो नमूना पेश आया—‘बाह ! आदिवन के आखिरी दिन । कलकत्ते में खासी गर्मी थी । लेकिन बाहर हल्की-हल्की ठंड पड़ने लगी थी—खास तौर से रात के समय ।

‘अपने दोनों बच्चों को सुलाकर, मंझले भैया ने हुबम दिया—इनको एक चादर-बादर उढा दो ! ठंड लगेगी ।

‘मंझली भाभी ने अवाक होकर कहा—ओढ़ने की चादर ? वह कहां मिलेगी ? मैं तो अधिक चादरें लाई ही नहीं ।

‘मंझले भैया दहाड़ उठे—वहुत अच्छा किया ! अपने लिए साड़ियां तो तीन दर्जन लई हो ना !

‘अब यह बताना फिजूल है कि भद्र महिला भी भड़क गई ।’

‘और नहीं तो क्या ? साड़ी का ताना देने पर भला कौन औरत नहीं भड़क उठेगी ?’ निवेदिता ने अपनी राय दी ।

‘हूं, उन्होंने फौरन जवाब जड़ा—शिमला-टिमला नहीं आई हूं ! मुझे क्या मालूम था कि यहां रजाई-कंवल समेत आना चाहिए था ! फिर भी मैं अपनी बुद्धि से बच्ची के छोटे-मोटे स्वेटर लेती आई थी कि सुबह-सवेरे घूमने-फिरने जाएंगे । इतना कुछ सोच-समझकर तो सारा सामान लाई—खैर, साहब, मेरे पास यूं भी दो-एक चादरें अधिक रहती हैं । अतः यह मोर्चा तो किसी तरह शांत हुआ ! अगली सुबह फिर शुरू—कर्ता-गिन्नी में उच्च स्वर में प्रेमालाप सुनकर मैंने दरियाफ्त किया कि मामला क्या है ? पता चला, मंझले भैया का सावुन, टूथपेस्ट, आईना, कंधी और सेविंग-सेट भाभी लाना भूल गई थीं ।’

‘जाइए, आप बना रहे हैं ! ये सब चीजें क्या कोई भूल सकता है ?’ निवेदिता ने कहा ।

‘अजीब बात है ! भई, मैं क्यों बनाने लगा ? भला मंझली भाभी ही क्या यह नहीं जानती थीं कि ये चीजें भूलने लायक नहीं हैं ? कहीं भूल न जाएं, इसीलिए उन्होंने ये सारी

चीजें एक छोटी-सी अटैची में भर ली थीं, लेकिन वस, उने लाना ही भूल गईं ।

‘वहरहाल, वह मंभट भी किसी तरह मिटाया गया । मंभले भैया ने कहा—एक काम करो ! दोनों स्टोव जला लिये जाएं । मैं चाय-वाय बना लेता हूं, तुम दो-चार पूरियां और आलू की सब्जी उतार लो । वस, खा-पीकर घूमने निकल पड़े ।...लौटकर बाकी काम फटाफट समेट लिया जाएगा ! और कुछ नहो...वस, मांस और भात ! क्यों, तू क्या कहता है, यति ?

‘मैंने कहा, काफी है !—बगल के कमरे में स्टोव जलने की आवाजें आने लगीं । अचानक समुद्र-गर्जन से भी ऊपर एक और गर्जना सुनाई दी...यानी वही दापत्य प्रेमालाप !

‘लो, पूरी नहीं बन सकती ! चकला-बेलन नहीं आया ।

‘भूख लगने पर मंभले भैया को यूं भी होश नहीं रहता । वह पूरी तरह भड़क गए और ऊची आवाज में दहाड़ने लगे—तब दस दिन से क्या तुम घोड़े का अडा समेट रही थीं ? ये-वो लाने में मेरी जेब तो साफ हो गई । परदेस आकर रसोई-पानी करने के लिए एक चकले-बेलन की भी जरूरत पड़ती है, तुम्हें इतना भी नहीं मालूम ?

‘उफ ! महा मुश्किल में पड़ गया ! अब यह चीज तो मेरे सूटकेस में खोजने पर मिलने से रही । मतीजा यह हुआ कि बच्चों के लिए लाए दो डब्बे विस्कुटो में से पाच जनों ने मिलकर एक डब्बे का उसी क्षण सदुपयोग कर डाला । अब कल की बात कल देखी जाएगी ! लेकिन दोपहर के बक्त नाटक जरा और जम उठा । धूमकर लौटने के बाद बच्चे भूख-भूख

चिल्लाने लगे । मंझले भैया की भी करीब-करीब वही हालत । लौटते समय उन्होंने हम लोगों को आगे भेज दिया और खुद अपनी धोती के खोंचे में आलू-प्याज और मांस खरीदते हुए घर लौटे । अब यह तय हुआ कि कल से घूमने जाते समय बाजार-हाट करने के लिए एक थैला भी साथ चलेगा ।

‘ मंझले भैया बड़े उत्साह से रसोई में लग गए ।

‘ भाभी एक नहीं दो-दो बोटियां (एक प्रकार की छुरी, जिसे पांव में फंसाकर सब्जी काटी जाती है) लाई हैं, इसके लिए भैया ने उनकी तारीफ का पुल ही बांध दिया !’

निवेदिता ने हंसकर सवाल किया, ‘आप न...खूब नमक-मिर्च लगाकर बातें सुनाते हैं ! अब दो-दो बोटियां किसलिए ? दोनों प्राणी मिलकर सब्जी काटते ?’

‘ नहीं, नहीं, यह कौन कहता है ? भई, एक फलों को काटने के लिए नहीं थी । खैर, कुछ देर बाद फिर वह बंदूक की धांय-धांय ! उस समय चिलचिलाती हुई धूप थी । रात की ठंडक का लेशमात्र भी नहीं था ।

‘ अब मुझसे नहीं रहा गया, मैंने जाकर कहा—उफ मंझले दा, यह सब क्या कर रहे हो ? भूख बढ़ाने का क्या यह कोई नया तरीका है ? किस कदर चीख रहे हो ?

‘ मंझले भैया बोले—चीखूंगा नहीं ? तुम्हे पता भी है ? सब कुछ अपने हाथों से ठीकठाक करके, मांस चढ़ाकर, जैसे ही गरम मसाला मांगा, तेरी भाभी जैसे आसमान से गिरी ! कहती है—गरम मसाला ! गरम मसाला ! गरम मसाला लाने की किसको पड़ी थी ! सुना ? सुन लिया न तूने ?

‘मैं उनका मिजाज ठंडा करने के लिए हंस पड़ा, ऐसा है

कि गरम मसाले के बिना मांस नहीं पकाया जाता, ऐसा कोई कानून है ? आज वैसे ही बनाकर देखो न !

‘नहीं ! ऐसा-वैसा खाना मैं नहीं पकाता । उसका मन हो तो पकाए । यह कहकर वह सीधे विस्तर पर जा लेटे ।

‘उफ ! उस भरी दोपहरी में गरम मसाले की खोज में कितनी दौड़-धूप करनी पड़ी ! ’

‘क्या कह रहे हैं ? आपको दौड़ना पड़ा ? ’

‘अरे, बाह ! इसके अलावा और कोई उपाय था ? गांव का मामला...आसानी से कुछ मिलना ही मुश्किल ! और उसी दिन से वह कमबख्त माली मुझे गरम मसाला बावू कहकर बुलाने लगा । ’

अब तक सत्यशरण खुशी के मारे मंद-मंद मुस्करा रहे थे । इतनी देर बाद उन्होंने भी उत्साहित होकर छौंक लगाया, ‘और यह ? आप अगर आधी रात को वाघिन का दूध भी मांगें तो आपको निराश नहीं होना होगा । ’

‘तुम रुको तो । ’ निवेदिता ने भंकारती हई आवाज में कहा, ‘हर बात जरा सोच-समझकर मुंह से निकाला करो । ’

सत्यशरण ईपत् सकपका गए, लेकिन अपनी इज्जत की खातिर अड़े रहे, ‘बाह, मैं कोई झूठ बोल रहा हूं ? ट्रेन से उतरते ही जब सिर-दर्द शुरू हुआ, तब क्या हुआ था ?... वात यह है, जनाव, मुझे एक बहुत बुरी बीमारी है । जरा भी इधर-उधर हुआ नहीं कि मेरे आधे सिर में दर्द शुरू हो जाता है । समय-असमय कुछ नहीं, बस, शुरू हो गया तो गए काम से ! मेरी मां लाल चंदन घिसकर लगा देती थी, आज भी हमेशा वही लगाता हूं, और सिर-दर्द ठीक हो जाता है ।

अरे साहव, मैं तो आश्चर्य में पड़ गया जब घर में कदम रखते ही घिसा हुआ लाल चंदन लिए-दिए यह हाज़िर हो गई । अभी मैंने ट्रेन वाले कपड़े भी नहीं बदले थे ।’

हंसते हुए यतिश्वर के शुभ्र दांत चमक उठे, ‘जितना-जितना मैं सुन रहा हूं उतना ही आपके सौभाग्य पर मुग्ध हो रहा हूं, सत्यनारायण बाबू !’



देख लिया न अपने सुपुत्र को ! एक चिट्ठी टिकाकर वस्स, ‘बाबू साहव ने सारे कर्त्तव्यों से छुट्टी पा ली ।’

निवेदिता किताब का पन्ना मोड़ते हुए चौंक उठी, ‘चिट्ठी ? कहां ? किसने भेजी ?’

सत्यशरण ठठाकर हंस पड़े, ‘तुम तो विल्कुल नासमझ बच्चों-जैसी बातें कर रही हो ! अरे, और कौन चिट्ठी लिखेगा ? चिट्ठी नहीं भेजी, इसीलिए तो गुस्सा आ रहा है । मैं श्रीमान गौतम बाबू की अक्ल की बात कर रहा था ! और क्या होगा ? खाने-पीने की तकलीफ पा रहा है । इसीलिए बाबू साहव गुस्से के मारे मान किए बैठे हैं ।’

निवेदिता बुरी तरह सकपका गई । वह सत्यशरण की हां में हां मिलाते हुए, न तो वेटे की अक्ल को रो सकती है,

न उसका पक्ष ही ले सकती है ।

वैसे पति की मनःस्थिति उनकी समझ में आ रहा है ।
बेटे के लिए उनका मन कचोट रहा था । उसके खाने-पीने को
लेकर उन्हें जो तकलीफ हो रही थी, उसे ही गुस्सा और मान
के नाम पर वह बेटे के सिर मटने की कोशिश कर रहे थे ।

अचरज है, निवेदिता के बजाय सत्यशरण उदास हो रहे
थे । इधर कुछ दिनों में उसे तो गौतम एक बार भी याद
नहीं आया ? उसे कलकत्ते की हो कितनी बार याद आई
है ? अनाड़ी फटिक ने क्या पकाया-खिलाया, घर-द्वार कितना
गंदा पड़ा होगा—यह सब सोच-सोचकर किसी दिन वह
अस्थिर हुई है ? ...

शुरू-शुरू में तो खैर, उसे अपने बेटे पर ही भयंकर मान
हो आया । कभी कभी जाना नहीं होता । इस बार सत्यशरण
के दोस्त की मेहरबानी से यह घर मिला था । इसीलिए तो
उसका इतना मन हो आया कि पति-पुत्र समेत वह कुछ दिनों
की छुट्टियां मना आए । लेकिन बेटे ने उसकी इच्छा को ठुकरा
दिया ।

लेकिन फिर भी, वह मां थी । उसके मन में यह मान
कभी अहम् हो सकता था ? बेटे के लिए उसका मन उदास
नहीं होगा ? उसे तकलीफ-असुविधा में छोड़ आई है ! यहां
आकर ऐसी निश्चित हो गई कि उसे भूल ही बैठी ।

निवेदिता का स्वभाव तो ऐसा नहीं था ।

उसे चुप देखकर सत्यशरण ने दुवारा पूछा, 'अच्छा बताओ
तो, हमें यहां आए कितने दिन हुए हैं ?'

निवेदिता को वह दिन याद है !

उन्होंने खुद महसूस किया है कि ये तमाम दिन कितनी तेजी से गुजरते जा रहे हैं। जाने कहां, किसी गहरे स्वप्न के नशे की तरह...

‘हमें आए आज तेईस दिन हो गए !’

‘इतने दिनों फटिक के हाथ का खाना खाते-खाते, बच्चू की सारी पढ़ाई-लिखाई ताक पर उठ गई होगी ! क्यों ?’

यानी सत्यशरण बेटे की बातें करना चाहते थे। निंदा के बहाने स्तुति की तरह।

‘अरे, नहीं, इस मुगालते में न रहना। तुम्हारा बेटा ऐसा-वैसा नहीं है। वह टूट जाएगा, लेकिन भुकेगा हरगिज नहीं !’

निवेदिता मानो किसी और दुनिया से अपनी दुनिया में लौट आई।

सत्यशरण ने कहा, ‘एक काम किया जाए तो कैसा रहे ? उसको जरा खास तौर पर एक खत दूं कि वह चला आए। छुट्टी के बाकी दिन यहां बिताकर, हम लोग एकसाथ ही...’

निवेदिता ने सहसा सख्त लहजे में अपनी राय दे डाली, ‘नहीं ! हमीं लोग लौट चलने की सोचें ! अब यहां रहने की जरूरत ही क्या है ?’

सत्यशरण अचकचा गए। उन्हें समझ नहीं आया कि यह सख्ती किसके ऊपर है। पति पर ? या पुत्र पर ? लेकिन क्यों ? बेटे के प्रति जो नाराजगी या मान था, यहां आने पर तो उसका नामोनिशान तक नहीं दिखाई पड़ा ! ‘जरूरत ही क्या है’—इस वाक्य में कोई गहरा अर्थ है ?

अरे, भई, तब आने की ही क्या जरूरत थी ?

इतनी कोशिश करके पूजा की छुट्टियों के साथ और एक

महीने की छुट्टी गढ़ाने की ही क्या जरूरत थी ?

लेकिन डर के मारे उन्होंने कुछ भी नहीं पूछा ।

आजकल अक्सर उन्हें निवेदिता को समझने में दिक्कत होने लगी है ।

लेकिन खुद निवेदिता ही क्या समझ पाई है कि उसकी यह सख्ती खुद अपने ऊपर ही है ! अचानक जैसे उसे अपनी किसी गलती का अहसास हो गया हो, यह उसी की ग्लानि है ।

यहां आकर भला उन्होंने ही घबराहट में ऐसी कौन-सी चिट्ठी लिख डाली गीतम को ? परदेश-वसी बेटी को तो एक भी खत नहीं डाला !



सत्यशरण से यतिश्वर के परिचय के बाद से ही जैसे एक अलिखित नियम बन गया । घूमने निकलकर यतिश्वर पहले उनके घर हाजिर होते, फिर चाय-वाय पीकर तीनों एकसाथ निकलते ।

हालांकि यह नियम कहीं से भी उचित नहीं लगता ।

यतिश्वर भी अगर सपत्नीक होते, तो सब शोभन लगता ।

लेकिन एक युगल-दंपती के बीच में तीसरा व्यक्ति बिल्कुल अनमेल नहीं लगता। दो-एक दिन बाद यतिश्वर ने इस व्यवस्था से बचने की काफी कोशिश की, लेकिन बच नहीं पाए। उनकी आग्रह-मिन्नतों की वजह से ही मना नहीं कर पाए।

वाकई, सत्यशरण बेतरह आग्रह करने लगते हैं।

दरअसल, वह घर-गृहस्थी वाले सामाजिक इंसान हैं। अपना चिरपरिचित परिवेश, कार्यालय के अभ्यस्त काम-काज, दोस्तों का साथ—सब कुछ छोड़-छाड़कर, यहां महज एक अदद बीबी की संगति में मानो बुरी तरह हांफ उठे थे। इसके अलावा पति-पत्नी के बीच बातचीत के जो परिचित विषय थे, यहां वे कुछ भी नहीं हैं। और जो कुछ है भी, उसमें निवेदिता का मन साथ नहीं देता।

ऐसी हालत में किसी तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति बिल्कुल आशीर्वाद-सरीखी लगी थी।

हां, सत्यशरण ने यतिश्वर का आश्रय थामा था।

उसकी आरजू-मिन्नत ठुकराना बहुत मुश्किल हो जाता है।

और निवेदिता ?

वह तो अजीबोगरीब रहस्य है।

वह मानो किसी अकल्पित संशय का रूप धरकर यतिश्वर के सामने आकर खड़ी हो गई है।

यतिश्वर के संग-लाभ के प्रति सत्यशरण जो आग्रह प्रकट करते हैं, निवेदिता तो उसके शतांश का एकांश भी नहीं करती। बल्कि बहुत बार वह पति की बातों का विरोध करती है। यतिश्वर की सुविधा-असुविधा का सवाल उठाकर

पति को रोकने की कोशिश करती है । लेकिन यह क्या सब कुछ है ?

यतिश्वर के आते ही उनकी आंखों और चेहरे पर जो रोशनी फैल जाती है, वह क्या नज़र-अंदाज़ किया जा सकता है ? सत्यशरण जैसे 'भोले बाबा' की आंखों में अगर वह नागवार न भी गुजरे, लेकिन यतिश्वर की तीखी दृष्टि की परिधि से वह अपने को कैसे छुपा सकती है ?

जुवानी विरोध के साथ आंखों के अनुयन की भापा में कहीं कोई तालमेल खोज पाना असंभव था ।

यतिश्वर अवाक् हो उठे ! उन्होंने अविश्वास करना चाहा है, अपनी राय को महज़ गलतफहमी कहकर उड़ा देने की कोशिश की है, लेकिन सब बेकार । यतिश्वर के प्रति निवेदिता की असावधान, मुग्ध दृष्टि सच बात का पता दे जाती है ।

जब वह एक गंभीर विचारक की हैसियत से अपने इस अकल्पित संशय का विश्लेषण करने की कोशिश करते हैं तो बेहद निरुपाय हो जाते हैं ।

लेकिन क्या यह संभव है ?

सचमुच, क्या यह मुमकिन है ?

उफ ! कैसे वेचन कर जाते हैं ये ह्यात !

हालांकि इस वारे में सोचने का मन भी करता है, लेकिन सोचते हुए शर्म भी आती है । हां, अपनी ही नजर में अपने प्रति शमिन्दगी होती है । कभी-कभी यह आशंका भी होती है कि कहीं बुद्धि तो भ्रष्ट नहीं हो गई, वरना मन में ऐसे-ऐसे संदेह जागते । ऐसा नामुमकिन-सा, अवास्तविक संदेह !

इसके वजाय जब वह उनके साथ घूमते-फिरते रहते बातें होतीं या वहस में उलभे रहते, उस वक्त ऐसे ख्याल उन्हें कम परेशान करते थे । कैसा हास्यास्पद लगता है यह संदेह ।

लेकिन जब वह लौट आते हैं ?

अकेले होते हैं ?

तब ? तब निवेदिता की उम्र का कतई कोई लिहाज या ख्याल नहीं रहता । उसका गृहिणी-रूप भी याद नहीं आता । उन्हें तो यह भी याद नहीं रहता कि अभी उसी दिन सत्य-शरण से बातों-बातों में उम्र का भी हिसाब-किताब हो गया था ! यतिश्वर उम्र में निवेदिता से कुछेक महीने छोटे साबित हुए थे ।

उन्हें तो लगता है, मानो निवेदिता ही एक छोटी-सी, नन्ही-सी लड़की है ।



यतिश्वर अपनी दीर्घ, अविवाहित जिंदगी में कभी ऐसी असहाय स्थिति में नहीं पड़े थे । अपने को किसी दिन भी यूँ हारा हुआ महसूस नहीं किया था ।

उन्होंने खूब-खूब सोचा, सब कुछ को हंसकर उड़ा देने की अजहद कोशिश की । लेकिन कहां कुछ हो पाया ?

दोनों वक्त किसी का बेहद आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचता रहता था। वहां जाने के अलावा और कोई राह नहीं बचती। वह हर दिन फैसला करते हैं, अच्छा, आज वस, आखिरी बार ! आज के बाद चाहे कुछ भी हो... ! लेकिन अगले दिन फिर वही हाल। जाए बिना गति ही नहीं थी। और कुछ नहीं तो कहीं नयी जगह साथ चलने की धुन मवार हो जाती। नयी जगह से जाने की सारी जिम्मेदारी मानो यतिश्वर की ही थी।

सत्यशरण तो खर, चिरनावालिग थे। अगर यतिश्वर न मिलते तो महज्ज जगन्नाथ जी के अलावा, दूसरी नयी-नयी जगहें देखना क्या संभव हो पाता ? कही किसी अनजानी जगह जाने की बात उठते ही, सत्यशरण की परेशानियों का अंत नहो रहता।

मानो पुरी कोई बहुत असाधारण जगह है।

जो भी देखने लायक जगहें हैं, सभी तो विल्कुल आस-पास है। वहां तक जाना दुर्लभ भी नहीं था, दुःसाध्य भी नहीं।

दरअसल पुरी में जो सबमुच देखने लायक चीज है, उसे तो किसी भी कोने में, रेत के टीले में धंसकर देखा जा सकता है। इसके लिए न दीड़-धूप की जरूरत है, न अफरातफरी की। वहां के लिए टिकट भी नहीं कटाना पड़ता, चढ़ावे धरंगरह नहीं चढ़ाने पड़ते। और तो और, उस विराट महान देवता के, समय के जरा से हेर-फेर के कारण दर्शन न हो पाने का भी भय नहो ! उनके पट कभी बद नहीं होते थे— न भोग के लिए, न शयन के लिए। वहां तो हर वक्त अनत-

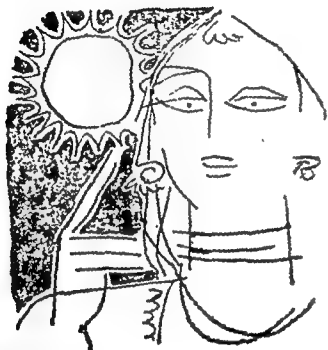
रेत का बुन्दावन

कालीन आरती की घूम !

फिर भी जब 'सिद्ध वकुल' या 'गौरांग को फटी कथरी' देखने जाते समय, उनके वगैर ही जाना पड़ता था ।

अब ये सब जगहें बिना देखे लौट गए, तो लोग क्या कहेंगे ?

गाल पर हाथ रखकर हैरत-अंग्रेज निगाहों से घूरेंगे नहीं ?



अब तो 'फटी कथरी मठ', मंदिर वगैरह देखने जाने का सिलसिला भी खत्म हुआ । अब निवेदिता ने एक नयी फरमाइश जड़ दी । इतनी दूर आकर भी, अगर कोणार्क नहीं देखा, तो जिंदगी ही बेकार !

उसकी बात सुनकर सत्यशरण पर जो मानो आकाश टूट पड़ा ।

निवेदिता को क्या नहीं मालूम कि कोणार्क के रास्ते में हर भाड़ी-भुरमुट में बाघ और हर खोह-गह्वर में डाकू छिपे रहते हैं, जो मौका पाते ही गर्दन पर सवार हो जाते हैं !

अरे भई, पूरी आए, बहुत अच्छा किया । जगन्नाथ जो के दर्शन करो, सागर-स्नान करो, दो-एक कटकी साड़ियां और खेतर-कांसा के बर्तन खरीदो । यहां-वहां घूम-फिर नो ! वन, और क्या ?

फिर लोटने के लिए बोरिया-विस्तर बांध लो ! बस्स ! अब यह कैसी दुःसाहसी साथ ?

उनकी बातें सुनकर निवेदिता ने स्वयं सवाल किया, 'पुराने ज़माने से लेकर आज तक जो लोग कोणाकं नामक विजन, जंगली पथ पर मां-मां करते आए हैं, लगता है, वे सभी अपनी यात्रा में बाघ के दांत या ढाक़ुओं के हाथों 'महायात्रा' के पथिक बन गए हैं न ?'

उस दिन कर्ता-गिन्नो की तू-तू, मैं-मैं के बीच जाने कहां से यतिश्वर आ पड़े ।

सत्यशरण उत्साह से भर उठे, 'अरे भैया, तुम आ गए ? मैं पूछता हूं, कल तो तुम बीच राह में पटाखे में मारचिस दिखाकर, भाराम से खिसक लिए ? इधर यह पटाखा ऐसा फूटा कि मेरी तो जान पर बन आई ।'

सरस और वाक्पटु यतिश्वर ने उसी की तरह जरा रसीले लहजे में बात करने की गरज से आजकल सत्यशरण भी, काफी कोशिशों के बाद, इस तरह की हसी-दिल्लीगी करना सीख गए हैं ।

यतिश्वर ने अचकचाकर बारी-बारी ने दोनों की तरफ देखा और पूरी स्थिति का जायजा भी ले लिया । बात यह थी कि कोणाकं की बात कल उन्होंने ही छेड़ी थी ।

सैर, सत्यशरण की बातों के उत्तर में उन्होंने हंसते हुए

पूछा, 'क्यों, क्या हुआ ?'

'होगा क्या ? वही कोणार्क ! कल से दिमाग में घूम रहा है । सारी रात नींद हराम । आधी रात को आंख खुली तो खिड़की के पास तनकर बैठी हुई !'

निवेदिता भेंप गई । उसने भुंभुलाकर कहा, 'हां ! हां ! आधी रात को कोणार्क की चिंता में तो घुलती हुई बैठी थी खिड़की पर ? ऐसी आलतू-फालतू बातें करते हो न !'

'अच्छा, तो तुम ही बताओ, खामख्वाह नींद क्यों नहीं आई ?'

'नहीं आई—तो नहीं आई ! तुम्हारी तरह सब कुंभकर्ण तो हैं नहीं कि तकिये पर सिर रखते ही नींद में बेहोश !'

यतिश्वर भी हंस पड़े, 'वैसे वहां जाने में दिक्कत क्या है ? अपने होटल से बहुत से लोग जा रहे हैं । प्रायः रोज ही एक न एक दल तैयार हो जाता है ।'

'जो जाता है जाए, भैया ! मुझे यह ठीक नहीं लगा । नाहक ही भले-चंगे शरीर को कष्ट देना ! अरे, भैया, दुनिया में तो बहुत-बहुत-सी चीजें हैं देखने लायक, लेकिन कितनी चीजें लोग देख पाते हैं ?'

यतिश्वर ने हंसते हुए कहा, 'वैसे मेरी भी राय बहुत-कुछ आपसे मिलती-जुलती है । लेकिन...'

लेकिन ? मेरे घर में आग लगाकर अब मजा देखने के लिए मुकर रहे हो ! क्यों ?—सत्यशरण अपने मजाक पर खुद ही हंस पड़े ।

निवेदिता ने यतिश्वर की तरफ देखते हुए कहा, 'इस

वक्त तो खूब बातें बना रहे हैं। उस दिन तो कह रहे थे कि आप दो-दो चार कोणार्क हो आए हैं ?'

‘अरे, वह तो किसी दल-बल के चक्कर में—और क्या ?’

‘इस्स ! लेकिन उस दिन तो आप कह रहे थे कि आपको कोणार्क बेहद पसंद है ?’

‘अच्छा ! मैंने यह कहा था ? लेकिन, ऐसी कोई बात नहीं। असल बात यह है कि...’

सत्यशरण ने कहा, ‘ओह...अब तुम लोग फिर असल बात पर उतर आए ? तब तो पहले चाय-शाय का इंतजाम कर लेना चाहिए, जी ! जरा गला तर करके शुरू होना ही बेहतर है ! .. बहस एक बार शुरू हुई, तो घंटों चलेगी ! ... तुम भी तो बहस का मौका पाते ही फिर...’

निवेदिता ने कहा, ‘ठीक है, आज मैं चुप !’

यतिश्वर की निगाहें निवेदिता को पढ़ती रही, अचानक उन्होंने मुस्कराते हुए दांत स्वर में कहा, ‘वह भी तो बर-दास्त नहीं होगा ! सागर अगर यह आश्वासन दे बैठे—अच्छा, अब मैं एक चुप, हजार चुप—तो आप उसे सह पाएंगी ?’

पल-भर के लिए निवेदिता के चेहरे का रंग उड़ गया। लगा उसके पास इसका कोई जवाब नहीं। लेकिन अगले ही पल वह हंस पड़ी, ‘अच्छा, तो बात धुमाकर कही जा रही है ! मेरी बातों की तुलना सागर-गर्जन से की जा रही है ? क्यों !’

‘भई, यह भी वही बता सकते हैं, जो उस गर्जन का

स्वाद विलक्षण भाव से पाते हैं !' कहते हुए यतिश्वर ने सत्यशरण की तरफ कौतुकी निगाहों से देखा ।

सत्यशरण अपनी बनियान खिसकाकर, दीवाल से अपनी पीठ रगड़ते-रगड़ते बोले, 'अरे, भइया, अब इन सब बातों का जवाब दूँ, इतनी ताब मुझमें कहां ! तुम ठहरे प्रोफेसर आदमी ! लेक्चर देना तुम्हारा पेशा ही है ! और ये तो महज नाटक-नावेल पढ़कर सीखी हुई विद्या से तुम्हें हरा देती हैं । मैं विचारा तो तुम लोगों की आधी बातों का मत-लब भी नहीं समझ पाता ! हुंहः, कौंसी वहकी-वहकी बातें करते हैं लोग यहां...'

निवेदिता ने अचानक हंसते-हंसते पेट पकड़ लिया, 'सुन रहे हैं न, प्रोफेसर साहब, देख लोजिए ! इन बुड्ढे-खूसट के हाथों में पढ़कर मेरी समुची जिंदगी ही मिट्टी हो गई ।'

सत्यशरण ने भी मनुहार से हंसते हुए कहा, 'हां-हां, खुद तो विल्कुल आधुनिका तरुणी हा न ! क्यों, कितने दिन हुए तुम्हें दुनिया में आए ?'

'अरे, पुराने जमाने की हूं या नये जमाने की—इसके फैसले में क्या सिर्फ साल या तारीख की जरूरत पड़ती है ? इन सबका हिसाब विल्कुल अलग है, समझे ? क्यों, आपका क्या ख्याल है प्रोफेसर साहब ?'

सत्यशरण ने हताश लहजे में कहा, 'देख लिया न, भैया, फिर वही वहकी-वहकी खामख्याली । लेकिन सच्ची, तुमने इतनी सारी बातें कहां से सीखीं, यह भी मेरी समझ के बाहर है । समंदर की खुली हवा में तुम्हारा दिमाग और खुल गया है, शायद ! बीच-बीच में तो मुझे यह आशंका होती है कि

तुम्हारी उम्र कहीं दस साल कम तो नहीं हो गई ।’

किसी बाहरी आदमी के सामने कोई बात कितनी दूर तक खींचनी चाहिए और कहां फुलस्टाप लगा देना चाहिए, इतनी अवलमंदी का विचारे सत्यशरण में निहायत हो अभाव है ।

निवेदिता ने किंचित खीझकर कहा, ‘अच्छा, बहुत हुआ ! अब धुप करो ! और कोई बात करने को नहीं है ? ... हां, तो अब जरा असली बात पर तो आएँ, प्रोफेसर साहब ! कोणार्क जाने का क्या बना ? अगर ये बूढ़े जरूरत जाने को राजी न हों, तो चलिए, हम लोग ही हो आएँ । बाघ खाएगा, तो हमें ही खाएगा न ! बस-बस का क्या इंतजाम है ? फी आदमी कितना किराया है ?’

काफी हुज्जत-हंगामे के बाद जाना पक्का हो गया ।



आग्विरकार सत्यशरण को राजी होना ही पड़ा । हालांकि निवेदिता ने उनकी कसकर खबर लेने की कोशिश की, ‘क्यों, तुम्हें साथ चलने की क्या जरूरत है ? तुम्हें तो किसी ने चलने को कहा नहीं । अरे, नहीं जाओगे, तो खुद पछताओगे ! और अगर हम बाघ के पेट में चले ही गए, तो साबित हो जाएगा कि तुम जीत गए ।’

स्वाद विलक्षण भाव से पाते हैं !' कहते हुए यतिश्वर ने सत्यशरण की तरफ कौतुकी निगाहों से देखा ।

सत्यशरण अपनी बनियान खिसकाकर, दीवाल से अपनी पोठ रगड़ते-रगड़ते बोले, 'अरे, भइया, अब इन सब बातों का जवाब दूं, इतनी ताब मुझमें कहां ! तुम ठहरे प्रोफेसर आदमी ! लेक्चर देना तुम्हारा पेशा ही है ! और ये तो महज नाटक-नावेल पढ़कर सीखी हुई विद्या से तुम्हें हरा देती हैं । मैं विचारा तो तुम लोगों की आधी बातों का मत-लब भी नहीं समझ पाता ! हुंहः, कैसी वहकी-वहकी बातें करते हैं लोग यहां...'

निवेदिता ने अचानक हंसते-हंसते पेट पकड़ लिया, 'सुन रहे हैं न, प्रोफेसर साहब, देख लोजिए ! इन बुड्ढे-खूसट के हाथों में पढ़कर मेरी समुची जिंदगी ही मिट्टी हो गई ।'

सत्यशरण ने भी मनुहार-से हंसते हुए कहा, 'हां-हां, खुद तो बिल्कुल आधुनिका तरुणी हा न ! क्यों, कितने दिन हुए तुम्हें दुनिया में आए ?'

'अरे, पुराने ज़माने की हूं या नये ज़माने की—इसके फैसले में क्या सिर्फ साल या तारीख की जरूरत पड़ती है ? इन सबका हिसाब बिल्कुल अलग है, समझे ? क्यों, आपका क्या ख्याल है प्रोफेसर साहब ?'

सत्यशरण ने हताश लहजे में कहा, 'देख लिया न, भैया, फिर वही वहकी-वहकी खामख्याली । लेकिन सच्ची, तुमने इतनी सारी बातें कहां से सीखीं, यह भी मेरी समझ के बाहर है । समंदर की खुली हवा में तुम्हारा दिमाग और खुल गया है, शायद ! बीच-बीच में तो मुझे यह आशंका होती है कि

तुम्हारी उम्र कहीं दस साल कम तो नहीं हो गई ।’

किसी बाहरी आदमी के सामने कोई बात कितनी दूर तक खींचनी चाहिए और कहां फुलस्टाप लगा देना चाहिए, इतनी अक्लमंदी का विचारे सत्यशरण में निहायत ही अभाव है ।

निवेदिता ने किंचित खीझकर कहा, ‘अच्छा, बहुत हुआ ! अब चुप करो ! और कोई बात करने को नहीं है ? ... हां, तो अब जरा असली बात पर तो आएँ, प्रोफेसर साहब ! कोणार्क जाने का क्या बना ? अगर ये बूढ़े हजरत जाने को राजी न हों, तो चलिए, हम लोग ही हो आएँ । बाघ खाएगा, तो हमें ही खाएगा न ! बस-बस का क्या इंतजाम है ? फी आदमी कितना किराया है ?’

काफी हुज्जत-हंगामे के बाद जाना पक्का हो गया ।



आखिरकार सत्यशरण को राजी होना ही पड़ा । हालांकि निवेदिता ने उनकी कसकर खबर लेने की कोशिश की, ‘क्यों, तुम्हें साथ चलने की क्या जरूरत है ? तुम्हें तो किसी ने चलने को कहा नहीं । अरे, नहीं जाओगे, तो खुद पछताओगे ! और अगर हम बाघ के पेट में चले ही गए, तो साबित हो जाएगा कि तुम जीत गए ।’

सत्यशरण ने गंभीर होकर कहा, 'देखो, बार-बार ऐसी अपशकुन की बातें मुंह से निकालना ठीक नहीं है। हां, तो भैया, कुछ कर ही डालो ! इस पार या उस पार ! आज तक तो कभी ऐसा नहीं हुआ कि जो सनक इन पर सवार हुई उसे पूरा किए बिना मान जाएं ! तो ठीक है, तुम दोनों सारी बातें तय कर डालो, तब तक मैं जरा बाहर घूम आऊं !'

निवेदिता ने टोका, 'अभी कहां घूमने जा रहे हो ?'

'अरे नहीं, भई, नहीं ! कहीं घूमने-भटकने नहीं जा रहा। जरा, दुकान तक जा रहा हूं।'

'दुकान ?' यतिश्वर ने पूछा, 'रात तो काफी हो गई है, इस वक्त कौन-सी दुकान...? अच्छा, चलिए, मैं भी चलता हूं।'

'अरे, नहीं ! नहीं ! ऐसी कौन-सी रात हुई है ? मैं बस गया और आया। अभी आया !'

'बात क्या है ?'

'यहां एक उड़िया पान वाले की दुकान है—वड़िया पान लगाता है। दो-चार वीडे ले आऊं, तो जमकर बैठा जाए।'

अचानक यतिश्वर ने पूछा, 'अच्छा, आपका वह उड़िया, भाभी से बेहतर पान लगाता है ?'

'भाभी' शब्द आज पहली बार उनके मुंह से निकला था। सत्यशरण के कानों को यह शब्द नया लगा या नहीं, कौन जाने। वह तो थे अपनी ही धुन में मस्त। पैरों में चप्पल पहनते हुए उत्तर दिया, 'भई, मुझे कहना तो नहीं चाहिए। मेम साहब भड़क जाएंगी। लेकिन, इस पान का स्वाद बहुत मजेदार होता है। कमबख्त क्या-क्या गुंडी-मुंडी डालते हैं !'



सत्यशरण के जाते ही निवेदिता ने छूटते ही सवाल किया, अचानक यह नया संवोधन क्यों ?'

'कहां ?' यतिश्वर अनमने हो उठे, 'ओ... 'भाभी' कहा, इसलिए ? अच्छा ही तो है । बात करने में मुविधा होगी ।'

'इतने दिन शायद बहुत असुविधा हो रही थी ?'

'नहीं, नहीं, यह कौन कहता है ?' वाक्पटु यतिश्वर भी इस वक्त बेहद अकेला और नवंस हो आया । काश ! सत्यशरण को जरा भी अबल होती ।

निवेदिता ने एक अजीब-सी हंसी हंसकर कहा, 'अपने को यूँ किसी रिश्ते में बांधे बिना, आप निश्चित नहीं हो पा रहे हैं न ? सिर्फ दोस्ती बिल्कुल असंभव बात है न ?'

यतिश्वर ने गंभीर आवाज में कहा, 'कौन जाने, इस 'असंभव' शब्द का कोई अर्थ है भी या नहीं । शायद नहीं होता । लेकिन मुश्किल तो यह है कि आप-जैसों को क्या कहकर पुकारा जाए, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता ।

‘मिसेज फलां’ बोलने में भी तो बुरा लगता है।’

‘तो फिर कुछ भी मत कहिए।’

‘क्यों ? आपको ही भला किसी खास संवोधन से आपत्ति क्यों है ?’

‘नहीं, आपत्ति भला क्या हो सकती है ?’

‘वातों के लहजे से तो लग रहा है, बेतरह आपत्ति है। कोई बात नहीं, आज से वह कैसिल। बताइए, आपको क्या कहकर बुलाया करूं ? मिसेज के बाद दूसरे का नाम न चलाकर, आपके नाम के साथ ‘देवी’ लगाकर बुलाए जाने में तो एतराज नहीं है ? लेकिन मुझे तो आपका नाम भी नहीं मालूम।’

‘नाम तक नहीं जानते ? अचरज है !’

निवेदिता ने अस्फुट स्वर में अचरज प्रकट किया।

लेकिन इसमें उसे हैरत की ऐसी कौन-सी बात लगी ? उसका नाम जानना क्या यतिश्वर का आवश्यक कर्त्तव्य था ?

यतिश्वर ने कहा, ‘नाम जानने का मौका ही कब मिला ? वह तो ‘एजी, सुनती हो’ कहकर काम चला लेते हैं।’

‘इसीलिए आप भी यह ‘भाभी-टाभी’ कहकर काम चलाना चाहते थे, यही न ?’

‘इसके अलावा और किसी बड़े हक की मांग किस भरोसे पर करूं, बताइए !’

महज बातों के लिए बातें होती रहीं। तलवार की बीच धार से अचानक ही फिसल पड़ी थीं वे बातें... धार की नोक तक जाने का साहस नहीं कर पाईं।



हालांकि यह शिष्टता के खिलाफ है, फिर भी अगर मैं आपका नाम पूछूं तो आप मुझे गलत तो नहीं समझेंगी ?'

'नाम जानने से लाभ ?'

'क्यों ? लाभ-नुकसान के हिसाब-किताब के अलावा क्या कही कुछ नहीं होता ? अक्सर सोचता हूं कि आपका क्या नाम हो सकता है ? मेरा मतलब है कि आप पर कौन-सा नाम फिट बैठता होगा ! लेकिन कभी पूछने का साहस नहीं कर पाया ।'

'इसमें साहस की क्या बात है ? मेरा नाम निवेदिता है ।'



यहां अस्त-व्यस्त हवाओं में तिलमात्र भी कमी नहीं है ।
वाल, साड़ी का आंचल हवा में उड़ा जाता है । समुद्र भी

रेत का बृन्दावन

दिखाई नहीं देता, सिर्फ उसका कल्लोल-भर सुनाई देता है। नीचे रास्ते पर सत्यशरण आते हुए दिख गए। ढीला-ढाला चेहरा। देह पर सिर्फ एक गंजी।

‘क्यों जी, प्रोफेसर, काम की बातें कहां तक बढ़ीं?’ प्रोफेसर के जवाब देने के पहले निवेदिता ने ही उत्तर दे डाला, ‘यह बात तो पक्की हो गई। मेरी इच्छा ही तय बात है!’

‘खैर, वह तो मैं जानता हूं। जब ज़िद चढ़ गई है तब...। इसी... इसी छोकरे ने मेरी बीबी का दिमाग खराब किया। मेरे घर की गिन्ती को... क्या तो कहते हैं—तुम लोगों में... हां... ‘तरुणी’ बनाकर ही छोड़ा!’



कोणार्क जाने के लिए इतना हुज्जत-हंगामा, इतनी उठा-पटाक हुई, और वहीं मिट्टी हो गया।

निवेदिता अपने बिस्तर-कपड़े समेटने में जुट गई।

गौतम का खत आया है—फटिक को बुराया आ रहा है और स्टोव जलाते हुए उसने अपनी अंगुलियाँ जला ली हैं। 'तुम लोग लौट आओ।' 'मुझे तकलीफ हो रही है,' यह उसने नहीं लिखा। कलकत्ता को इधर-उधर की खबरों में, महज सूचना के लिए यह खबर भी दे दी गई थी।

लेकिन इसके कारण कोई मान ठानना मां-बाप को शोभा नहीं देता। मुझे तुम लोगों की जरूरत है—यह कहना तो दूर की बात है, वरन् अगर स्पष्ट भाव से यह भी जाहिर कर दें कि मुझे तुम लोगों की बिल्कुल जरूरत नहीं है, फिर भी मां-बाप भला चैन में रह सकते हैं ?

निवेदिता ने उस खत को दो-तीन बार उलट-पलटकर पढ़ा। पति से पूछा, 'तुम तो कह रहे थे, गौतम ने लौट आने को लिखा है ? कहां लिखा है ?'

'एक ही बात है। वे लोग इसी तरह कहते हैं। तुम अपने बेटे को नहीं पहचानती ? वह क्या मान त्यागकर कहेगा, तुम लोग चले आओ ?'

'मान खोने का फर्ज हमेंशा हमी लोगों को निभाना चाहिए, क्यों ?'

'उफ ! क्या मुश्किल है ! अब तुम मह सब आंख-वांछ क्या बकने लगी ? फटिक को बुराया है, उसका हाथ जल गया है—यह सब सुनकर भी तुम निश्चित रह सकती हो ?'

'हां, कैसे रह सकती हूँ ? खैर, जा तो रहो हूँ।'



यतिश्वर यह सूचना देने आए थे कि वस का इंतज़ाम हो गया है। अगले दिन भोर में वस खाना होगी। रात के अंतिम प्रहर तक तैयारी पूरी कर लेनी होगी।

कमरे में कदम रखते ही उनकी निगाहें खुले हुए वक्से के सामने चुपचाप बैठी हुई निवेदिता पर अटक गईं। सत्य-शरण घर में नहीं थे। मेन गेट, सीढ़ी के दरवाजे, सबके सब खुले पड़े थे।

उनके चेहरे पर एक हंसी खेल गई, 'क्या बात है? अचानक चोरों के प्रति इतनी सहानुभूति क्यों? लगता है, अपना सब कुछ उनके हाथों सौंप देने को प्रस्तुत हो उठी हैं !'

आहट पाकर निवेदिता ने पीछे मुड़कर देखा। सिर का पल्ला ठीक करते हुए कहा, 'ओ...आप हैं ! वह तो अभी-अभी बाहर चले गए।'

यानी दरवाजा खुला होने की वस इतनी-सी कैफियत देकर, निवेदिता ने छुट्टी पा ली। ऐसा लग रहा था, मानो

वह बेहद थक गई है, ज्यादा कुछ बोलने की भी ताकत चुक गई है ।

यतिश्वर ने इधर-उधर नजरें दीड़ाते हुए चकित आवाज में पूछा, 'यह क्या ? इतना कुछ क्यों फैला लिया ? घर-घर बदल रही हैं ?'

'घर नहीं, देश ही बदल रही हूं । कलकत्ता वापस जा रही हूं ?'

'वापस जा रही हैं ?'

'हां ।'

'क्यों ?'

'आज रात को ही...।'

मिनट-भर को चुप्पी छा गई ।

यतिश्वर ने लगभग अस्फुट आवाज में पूछा, 'इतना... अचानक...?'

'जिंदगी में सभी कुछ तो बिल्कुल अचानक ही घटता है न, प्रोफेसर साहब !' निवेदिता मृदुल-सी हंसी हस पड़ी ।

'लेकिन क्यों ?'

यतिश्वर की सांसें तेज हो उठीं । मर्द होते हुए भी छाती धड़कने लगती है ।

सत्यशरण को क्या कोई शक हो गया है ? निवेदिता को लेकर कोणार्क जाने के प्रस्ताव के प्रति क्या उन्होंने जरूरत से ज्यादा आग्रह दिखाया था ? अतः शंकित आवाज में पूछा, 'लेकिन...क्यों ?'

गौतम का खत आया है । नीकर बीमार, खुद पूड़ियां उतारते हुए हाथ जला बैठा है...'

‘ओ...यह बात है !’

यतिश्वर की घड़कनें कुछ सहज हो आईं । भय की जगह अब हताशा ने ले ली ।

‘लेकिन...एकदम से आज ही ? ज्यादा जल गया है क्या ?’

‘साफ-साफ कुछ नहीं लिखा । लेकिन अब आज या कल जाना जब निश्चित है, तब इसे लेकर मैंने वहस नहीं की ।’

‘नहीं । मैं कह रहा था, कोणार्क हो आतीं, फिर परसों रात की गाड़ी से लौट सकती थीं ।’

‘नहीं, यह नहीं हो सकता ।’

अचानक यतिश्वर का स्वर अतिशय व्यग्र हो उठा, ‘क्यों नहीं हो सकता ? एक दिन में ऐसा क्या आता-जाता है ? आप साथ होंगी, यह सोच-सोचकर मैं कल से ही...’

‘कल से ही क्या ?’

‘नहीं, कुछ नहीं । मैं कह रहा था, एक दिन के फर्क से क्या आता-जाता है ?’

‘नहीं, शायद कुछ भी नहीं आता-जाता । लेकिन फिर भी असंभव है ।’

‘विल्कुल असंभव ?’

‘हां, विल्कुल असंभव । आपके यह भोले शंकर दादा हर बात को प्रश्न्य दे सकते हैं, लेकिन मातृ-स्नेह की त्रुटि वह कभी माफ नहीं करेंगे !’



‘जिंदगी में अब दुबारा कभी पुरी नहीं आएंगी न ?

‘उम्मीद तो नहीं है...’

‘पुरी के बारे में सब कुछ भूल जाएंगी न ?’

‘हां, असंभव क्या है ?...इंसान क्या कुछ नहीं भूल सकता ?’ कहते हुए वह हस दी है, ‘नहीं, मैंने थोड़ा-सा गलत कहा । कहना चाहिए था, औरतें क्या कुछ नहीं कर सकती ।

‘...खैर, छोड़िए ! आप बताइए, आप कब लौट रहे हैं ?’

‘कौन जाने, आज ही...’

निवेदिता शंकित हो उठी, ‘अरे...!’

‘क्यों, साथ चलूँ तो गुनाह है ?’

निवेदिता के होंठों पर सूखी-सी हंसी तैर गई, ‘गुनाह की बात नहीं है । लेकिन आप भला अभी क्यों जाएंगे ? आपके जाने की तो कोई वजह नहीं पैदा हुई !’

यतिश्वर ने अपना चश्मा उतारकर, रुमाल से पोंछते हुए कहा, 'अगर मैं कहूँ, वजह है !'

'आप न...क्रमशः अजीव रहस्यमय होते जा रहे हैं !' वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और एकवारगी कह उठी, 'नहीं, नहीं, यह बहुत गंदा लगेगा । अचानक आज ही आप क्यों जाएंगे ?'

'आप मना कर रही हैं ?'

'अजीब बात है । आपकी सारी गतिविधियाँ क्या मेरी अनुमति से नियंत्रित हैं ? अचानक आज ही आप भी चल दें, तो कहीं कुछ अजीब लगेगा, शायद इसीलिए कहा था ।'

उसने अपनी बात पूरी की थी कि दरवाजे के बाहर से सत्यशरण की आवाज सुनाई दी ।

'भैया, तुम यहां हो ? और मैं तुम्हें होटल तक खोज आया ।'

यतिश्वर चौंक उठे, 'खोज आए ! क्यों ?'

'अरे, वाह ! यह नयी खबर जो देनी थी, और क्यों ? तुमने क्या सारा कांड सुना नहीं ?'

यतिश्वर जाने क्या जवाब देने जा रहे थे कि अचानक उन्हें स्तंभित करते हुए, उनकी बात छीनकर वेहद सहज स्वर में निवेदिता ने कहा, 'अब रहने भी दो ! तुम्हारी नयी खबर की तारोफ अब होने से रही । यतिश्वर बाबू के अचानक आने का कारण मालूम है ? वह यह कहने आए थे कि कल वह कोणार्क नहीं जा सकेंगे ।' आज रात ही उन्हें कलकत्ता वापस लौटना है ।

'अरे... !'

‘अरे क्या ? मैं भी सुनकर अचकचा गई थी । मैंने मन ही मन सोचा—वाप रे, यह सब क्या ? लगता है, हम लोग कोई नजरबंद आसामी हैं और ये साहब पुलिस-अफसर । सचमुच, अजीब संयोग है !’

सत्यशरण ने पसीने में तर-व-तर कमीज उतारते हुए कहा, ‘चलो, अच्छा ही हुआ । लेकिन भई, तुम्हारा चक्कर क्या है ? बीबी-बच्चे...कुछ भी तो नहीं है । किसकी जरूरत आन पड़ी ?’

यतिश्वर ने वमुश्किल जवाब दिया, ‘कल कालेज की बोर्ड-मीटिंग है । आज ही खबर मिली ।’

निवेदिता ने जल्दी-जल्दी काम निपटाते हुए कहा, ‘अरे, कहते हैं न...भगवान...भगत के राखनहार ! अकेले-अकेले इतना सारा ताम-भाम समेटकर कैसे पहुंचोगे, अकेले टिकट-बिकट कैसे कटाओगे, ट्रेन कैसे पकड़ पाओगे—यह सब सोच-सोचकर तुम परेशान हो रहे थे न, भगवान ने मददगार भेज दिया । आप एक काम कीजिए यतिश्वर बाबू, आपका जो सामान-वामान है, सब ले-वेकर शाम को यही चले आइए—यहां से एकसाथ ही...’

सत्यशरण ने भी खुशी-खुशी उसकी बात की हिमायत करते हुए कहा, ‘हां-हां, ठीक । यही ठीक होगा ! देखा न भैया, हमारी गिन्नी कंसी चालाक है, अपनी सुविधा के लिए उनकी बुद्धि कितनी तेज दौड़ती है !’

यू सचमुच, सत्यशरण चिंता के मारे परेशान थे ।

इसी परेशानी की वजह से ही तो वह यतिश्वर के पास यह कहने को दौड़े गए थे कि वह उन लोगों को स्टेशन तक

यतिश्वर ने अपना चश्मा उतारकर, रुमाल से पोंछते हुए कहा, 'अगर मैं कहूँ, वजह है !'

'आप न...क्रमशः अजीव रहस्यमय होते जा रहे हैं !' वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और एकवारगी कह उठी, 'नहीं, नहीं, यह बहुत गंदा लगेगा । अचानक आज ही आप क्यों जाएंगे ?'

'आप मना कर रही हैं ?'

'अजीब बात है । आपकी सारी गतिविधियां क्या मेरी अनुमति से नियंत्रित हैं ? अचानक आज ही आप भी चल दें, तो कहीं कुछ अजीब लगेगा, शायद इसीलिए कहा था ।'

उसने अपनी बात पूरी की ही थी कि दरवाजे के बाहर से सत्यशरण की आवाज सुनाई दी ।

'भैया, तुम यहां हो ? और मैं तुम्हें होटल तक खोज आया ।'

यतिश्वर चौंक उठे, 'खोज आए ! क्यों ?'

'अरे, बाह ! यह नयी खबर जो देनी थी, और क्यों ? तुमने क्या सारा कांड सुना नहीं ?'

यतिश्वर जाने क्या जवाब देने जा रहे थे कि अचानक उन्हें स्तंभित करते हुए, उनकी बात छीनकर बेहद सहज स्वर में निवेदिता ने कहा, 'अब रहने भी दो ! तुम्हारी नयी खबर की तारोफ अब होने से रही । यतिश्वर बाबू के अचानक आने का कारण मालूम है ? वह यह कहने आए थे कि कल वह 'कोणार्क' नहीं जा सकेंगे ।' आज रात ही उन्हें कलकत्ता वापस लौटना है ।'

'अरे...!'

‘अरे क्या ? मैं भी सुनकर अचकचा गई थी । मैंने मन ही मन सोचा—वाप रे, यह सब क्या ? लगता है, हम लोग कोई नजरबंद आसामी हैं और ये साहब पुलिस-अफसर । सचमुच, अजीब संयोग है !’

सत्यशरण ने पसीने में तर-ब-तर कमीज उतारते हुए कहा, ‘चलो, अच्छा ही हुआ । लेकिन भई, तुम्हारा चक्कर क्या है ? बीबी-बच्चे...कुछ भी तो नहीं हैं । किसकी जरूरत आन पड़ी ?’

यतिश्वर ने यमुझिकल जवाब दिया, ‘कल कालेज की बोर्ड-मीटिंग है । आज ही खबर मिली ।’

निवेदिता ने जल्दी-जल्दी काम निपटाते हुए कहा, ‘अरे, कहते हैं न...भगवान...भगत के राखनहार ! अकेले-अकेले इतना सारा ताम-भ्राम समेटकर कैसे पहुंचोगे, अकेले टिकट-टिकट कैसे कटाओगे, ट्रेन कैसे पकड़ पाओगे—यह सब सोच-सोचकर तुम परेशान हो रहे थे न, भगवान ने मददगार भेज दिया । आप एक काम कीजिए यतिश्वर बाबू, आपका जो सामान-बामान है, सब ले-वेकर शाम को यहीं चले आइए—यहां से एकसाथ ही...’

सत्यशरण ने भी खुशी-खुशी उसकी बात की हिमायत करते हुए कहा, ‘हां-हां, ठीक । यही ठीक होगा ! देखा न भैया, हमारी गिन्नी कैसी बालाक है, अपनी मुविधा के लिए उनकी बुद्धि कितनी तेज दौड़ती है !’

यूं सचमुच, सत्यशरण चिंता के मारे परेशान थे ।

इसी परेशानी की वजह से ही तो वह यतिश्वर के पास यह कहने को दौड़े गए थे कि वह उन लोगों को स्टेशन तक

छोड़ आएँ। यह तो बहुत ही अच्छा हुआ।



गिन्नी की चालाक बुद्धि का परिचय पाकर, आनंद में डूबे हुए सत्यशरण सफर के समय खुद ही एक मूर्खतापूर्ण प्रस्ताव कर बैठे।

उन्होंने कहा कि टिकट के रुपये, सामान और निवेदिता को लेकर यतिश्वर जरा पहले ही स्टेशन चले जाएँ। सत्यशरण घर में ताला लगाकर, उसकी चाबी सौंपने के लिए, घर के मालिक के एक रिश्तेदार के पास 'चटक पहाड़' जाएंगे, फिर वहां से सीधे स्टेशन पहुंच जाएंगे।

विल्कुल सीधा-सादा हल था।

यतिश्वर ने असहाय होकर कहा, 'उन रिश्तेदार का घर कहां है? मुझे बता दीजिए, न हो, मैं ही चाबी दे आऊंगा। तब तक आप गाड़ी में....'

'ओ, नहीं, नहीं। अच्छा नहीं लगेगा। हमारे लिए वह लोग चौकी, दरी, वाल्टी, चूल्हा—जाने क्या-क्या पहुंचा गए थे, इसके लिए उन्हें धन्यवाद तो दे आऊं। असल में यूँ अचानक चले जाने का प्रोग्राम नहीं था न! मैंने तो सोचा था कि उन सज्जन को एक दिन अपने यहां दावत दूंगा लेकिन

नहीं हो पाया ।...तुम गाड़ी की चिंता मत करो । मैं पैदल तो जा नहीं रहा हूँ । एक सायकिल-रिक्शा ले लूंगा । लेकिन तुम लोग वस चल दो ।...कहाँ हो जी, नो, चटपट तैयार हो जाओ । तुम लोगों को धोड़ा-गाड़ी पर चड़ाकर, तभी तो तात्ता लगाऊंगा ।’



निवेदिता ने इशारे से पति को अलग ले जाकर विपन्न लहजे में कहा, ‘अच्छा, तुम में साधारण-सी बुद्धि की भी इतनी कमी क्यों है, बताओ तो ! तुम अचानक इस तरह का प्रस्ताव क्यों कर बैठे ?’

सत्यशरण ने हड़बड़ाते हुए कहा, ‘कैसा प्रस्ताव ?’

‘यही—जितना सारा निर्जीव-सजीव सामान था, सब यतिद्वार बावू के सिर पर थोपकर, खुद हाथ-पांव काड़कर मजे में...’

सत्यशरण ने जोर का ठहाका लगाकर कहा, ‘ओ, यह बात है ! सो, तुम उसकी चिंता मत करो । अपना प्रोफेसर बुरा नहीं मानेगा । असल में बहुत भला लड़का है !’

‘हूँ, भला होने की वजह से उस भलेमानस को काफी

मुविधा उठानी पड़ रही है। लेकिन मैं...मेरा मतलब था,
ह क्या बहुत अच्छा लगेगा ? अकेली मैं उनके साथ खट्-खट्
करती चली जाऊं, तुम अलग जाओ ? यह क्या शोभन
होगा ?'

सत्यशरण ने फिर एक ठहाका लगाया, 'राम-राम !
इत्ती-सी बात के लिए तुम इतनी परेशान हो रही हो ! नन्ही-
मुन्नी वच्ची हो न ! अरे, कोई कुछ कहकर तो देखे, किसके
सिर पर काल नाच रहा है ?'

'हुंहः...बोलने के लिए यहां कोई बैठा नहीं है ! लेकिन
...मान लो, मैं ही उसके साथ भाग जाऊं ?'

निवेदिता की छाती तेज-तेज धड़क उठी। उसके चेहरे
का रंग भी अस्वाभाविक रूप से लाल हो आया।
'हां, चाहो तो भाग जाना ! लेकिन जहां भी जाना,
पता-ठिकाना देती जाना !'

सत्यशरण की निगाहों में ऐसा कुछ भी नहीं आया। वह
अपनी ही धुन में फिर एक बार हंस पड़े।



निवेदिता का चेहरा विरक्ति से सिकुड़ आया । मानो पति के इस वचन और नासमझी पर वह मुश्किल में पड़ गई हो । लेकिन उस विरक्ति की छाया तले कहीं एक खुशी की आभा चमक उठी थी । किसी किशोरी के चेहरे पर जैसे किसी प्रत्याशित संभावना की रोशनी झिलमिल उठी हो ।

घर से स्टेशन तक का रास्ता आखिर कितना-सा होता है ? सवारी से जाते हुए, बहुत अधिक हुआ, तो यही कोई आठक मिनट ।

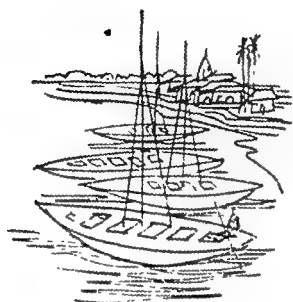
लेकिन इत्ती-सी देर में क्या समूची दुनिया एक बार उलट-पलट नहीं सकती ?

लेकिन उलट-पलट की क्या जरूरत है ? यह समूची दुनिया निश्चिह्न हो सकती है, अगर महासागर के मन में किसी पागल पुकार का तूफान जाग उठे ।

आठ मिनट का समय क्या कम होता है ?

शायद, कम होता हो !

हां, हिम्मत जुटाने में ही तो आधा वक्त गुजर जाता है !



चलती हुई गाड़ी और तूफानी हवा में, किसी मृदुल उच्छ्वास की तरह, कुछेक शब्दों के टुकड़े सुनाई पड़े, 'जानती हैं, मेरी ज़िंदगी में ऐसा भयंकर मुहूर्त्त कभी नहीं आया !'

'भयंकर ! भयंकर किसके लिए ?'

निवेदिता मानो अपने में वापस लौट आई और चकित निगाहों से चारों तरफ देखा। वह क्या उन वर्तन-भांडों या वक्से-विछौने से ही ताकत बटोरने की कोशिश कर रही थी ?

कौन जाने, उसे क्या हो गया था !

यों तो वह हंस रही थी।

'भयंकर नहीं, शोचनीय कहिए ! कर्त्ता-गिन्नी ने मिलकर आपको कैसा सबक सिखाया ? उफ ! लेकिन उस समय वाकई मुझे बहुत मज़ा आया। आप शायद मेरी चालाकी

देखकर विल्कुल सक्ते में आ गए थे ! लेकिन जैसे ही जाना विल्कुल पक्का करके ही दम लिया। मैं कह रही थी लेकिन मन ही मन डर रही थी कि कहीं जान बूझकर जाहिर न कर दें ! कहीं आप यह न कह दें कि मैंने कलकत्ते लौट रहा हूँ, मैं यह कहने तो नहीं जानता। मैंने सबकुछ बचा लिया !'

यतिश्वर ने रुद्ध कंठ से कहा, 'हां, अब मैं नहीं कहूँ मही कहा, आपको बचा लिया। लेकिन अब मैं पूछूँ, आपने मुझसे वे बातें क्यों नहीं कहीं ? मैं क्यों जाऊँ आपके साथ ? अपनी इच्छा के अनुसार खोकर, क्या मेरा यह अवस्था बालिश है ? मैंने अवशान्त अपनी ओर खींचकर आने को कहा है -

'बाह, लाभ नहीं है !' निवेदिता की आवाज में कहा, 'देनिए न, किन्ती सुविधा के लिए सोचा, दो-चार दिन बाद आने को मैंने सोचा है न एकसाथ ही लौटें ! यों आने को मैंने सोचा है -

सहसा वह धीर-गंभीर, शिष्ट आवाज में गरीब हरकत कर बैठा।

लेकिन दुःसाहसिक क्यों ?

तुम्हारा हृदय, अपने हृदय—आलोक में
पल-पल देखा, जाने कितनी बार !

सचमुच, अपने हृदय के आलोक में निवेदिता के भी हृदय
के पल-पल साथी नहीं रहे हैं वह ? यह आलोक भी उनके
मन में स्वयं निवेदिता ने ही अपने हाथों जलाया था न ?

अतः दुःसाहसिक भला क्यों ?

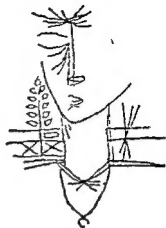
यतिश्वर के तरंगहीन चिरकुमार जीवन में, जिसने
इतनी सारी अनजान अनुभूतियों का आवेग जगा दिया था,
उसे भी तो इन लहरों के व्याकुल थपेड़े सहने होंगे न ?

लेकिन इन आकुल पुकारों के प्रतिउत्तर से निवेदिता
में कहीं कोई कंपन, कोई सिहरन नहीं हुई । वह तो पागलों
की तरह हंस पड़ो । उसने आहत-अपमानित यतिश्वर को
अपनी निर्मम हंसी की धार से टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा,
'यह क्या वचपना है ! लगता है, आपको कोई बीमारी लग
गई है । सारा कुछ मिट्टी कर दिया ।'

'निवेदिता ! ...प्लीज़...ऐसे मत हंसो...'

'अरे, अरे, यह क्या हरकत है ! आपकी बातों पर कोई
हंसे बिना रह सकता है ?'

और उसने धीरे-धीरे अपना हाथ यतिश्वर के हाथ से
छुड़ा लिया ।



छुड़ा लेने के अलावा और राह भी क्या थी ?

उसे न छोड़ती तो बहुत कुछ छोड़ना पड़ता न !

अगर वह असावधान हो जाती, तो गृहिणी निवेदिता के अंतर्मन में छुपी हुई असली निवेदिता प्रकट हो जाती। अगर यह धाकई सच हो जाता, तो उसका अपना ही किया-धरा सब मिट्टी हो जाता !

गौरव...सम्मान...पद-मर्यादा...विश्वास !

लेकिन असली निवेदिता, क्या आज के बाद भी कहीं किसी ओने-कोने में ज़िंदा बच जाएगी ? वह सचमुच की निवेदिता, जो खुद किसी चेतना की आड़ में रहकर, गृहस्थिन निवेदिता को असीम ताकत देती रही है, क्या आज के बाद कहीं जी पाएगी ?



शायद अब निवेदिता के रसोईघर में धूल-जाले, तेल की पत्तें जमती रहें, या भंडार की शीशी-बोतलों पर धूल की मोटी तह चढ़ जाए, या उसके तकिये के गिलाफों पर तेल के बदनमा धब्बे नज़र आने लगें... लेकिन निवेदिता उदासी और अवसाद में डूबी हुई, हाथ पर हाथ धरे, चुपचाप बैठी रहेगी।

अचानक वह निःशेष हो जाएगी ! चुकी हुई !

जिन जिम्मेदारियों को वह जिंदगी की अनिवार्य शर्त की तरह, अनायास ही संग-संग लिये फिरती थी, मुमकिन है, अब वह किसी भारी-भरकम पहाड़ की तरह हो आएँ !

निवेदिता के मन में भी हठात् जो वृंदावन उभर आया था, जिसने उसके भीतर सोए हुए प्यार और डूबी हुई साधों को हिलोर दिया था, जिंदगी की रेत ने उसे सोख लिया। वच रहा था महज रेत का वृंदावन !

